धर्म और अधर्म

• लेखक •

डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय

विद्यावारिधि न्याय-व्याकरणाचार्य

भू. पू. प्राचार्य : सं. म. वि. झलोखर, हमीरपुर

प्रकाशक : डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय

संस्करण : प्रथम, १००० प्रतियाँ

तिथि : होलिकोत्सव, ६ मार्च २००४

प्राप्ति स्थान :

१. श्रीविष्वक्सेनाचार्य, श्रीरंगमन्दिर, वृन्दावन
२. श्रीउमरावपाण्डेय, दैवज्ञ, शिवाजीनगर, अल्लापुरा, इलाहाबाद
३. श्रीविष्णुदत्त पाण्डेय, शिक्षक : गायत्री विद्या मन्दिर, लोहरदगा (झारखण्ड)
४. श्रीभवानीसिंह गौतम, एडवोकेट, हमीरपुर (उ.प्र.)
५. श्रीउमाशंकर शुक्ला, एडवोकेट, हमीरपुर (उ.प्र.)
६. श्रीगणेशदत्त शास्त्री, झलोखर, हमीरपुर (उ.प्र.)
७. सुबोधग्रन्थमाला, उपरबाजार, राँची (झारखण्ड)

मूल्य : १६ रुपये

मुद्रण-संयोजन :

श्रीहरिनाम प्रेस, हरिनाम पथ, लोई बाजार, वृन्दावन - 281121

दूरभाष : 0565-2442415

उपक्रम

आज समाज में जो बड़े लोग दिखाई पड़ रहे हैं उनमें अधिकांश कुशिक्षा तथा कुसंग से बने कुसंस्कारों के शिकार हैं। उनमें कुछ लोग अधर्म मार्ग पर चलते हुए धर्म की वकालत करते हैं। कुछ लोग बिना समझे धर्म में संशोधन की बात करते हैं। और कुछ लोग तो धर्म को सदा से समाज विरोधी एवं व्यक्तियों की प्रगति में बाधक भावना के रूप में स्वीकार करते हुए उसका उच्छेद ही चाहते हैं। कुछ छोटे लोग जप माला छापा तिलक को धर्म मान कर उनकी रक्षा कर रहे हैं किन्तु उन पर अर्थ काम मार्ग से अधर्म लगातार कब्जा करता जा रहा है जिससे वे भी प्रकारान्तर से अधर्म का ही प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। यह सब देख कर कुछ तटस्थ चित्तों में धर्म और अधर्म के सम्बन्ध में तथ्यपूर्ण जानकारी की इच्छा होती है। जानकारी से उनका कल्याण हो सकता है। इसी उद्देश्य से यह लघु निबन्ध प्रस्तुत किया जा रहा है।

– लेखक

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

धर्म और अधर्म

आत्मा के गुण भावना के परिणाम

विश्वोत्पत्तिस्थितिलयजगच्छान्तिसौख्येकहेतु–
श्चित्ते शुद्धे जनिमृतिमयापारसंसारसेतुः।
प्रीतिः स्नेहः स्फुरति भविनां जीवने योऽप्यहेतु–
र्धर्मः शश्वज्जयति स तपःसिद्धिसौन्दर्यकेतुः।।

जो विश्व की उत्पत्ति, रक्षा और अन्त का नियामक है, जो विश्व में शान्ति और सुख का प्रधान कारण है, जो चित्त की शुद्धि होने पर जन्ममृत्यु-प्रधान अपार संसार समुद्र को पार करने के लिए सेतु की भाँति विश्वस्त उपाय बनता है, जो संसारी जीवों के चित्त में समाज के प्रति अकारण प्रेम (सुख) और स्नेह के रूप में प्रकाशित होता है वह धर्म त्रिकाल में विजयी है, जिसका विजयध्वज सत्त्वप्रधान चित्त में अन्तर्मुखतारूपी तप और उससे होने वाली विविध सिद्धियों और भीतरी-बाहरी सुन्दरता के रूप में लहराता रहता है।

वैशेषिक दर्शन में जीवात्मा के नौ गुण माने गये हैं। वे हैं बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और संस्कार। अन्तिम तीन गुण अतीन्द्रिय हैं। कार्य से उनका अनुमान होता है। उक्त सभी गुण सदा बनते-बिगड़ते, घटते-बढ़ते रहते हैं। यहाँ धर्म और अधर्म पर विचार करना है। कहा गया है कि ये दोनों गुण दिखलाई नहीं पड़ते। केवल कार्य से इनका अनुमान होता है। कोई व्यक्ति, परिवार समाज, देश या राष्ट्र अपने उद्भव के समय से ही सुखी, शान्त, संगठित और लौकिक सभी सुख सुविधाओं से युक्त देखा जाता है। उसके अपने स्तर के अनेक मित्र होते हैं जो स्वयं सहायता पहुँचाते रहते हैं। इसके विपरीत कोई व्यक्ति परिवार समाज देश या राष्ट्र अपने उद्भव के समय से ही रोगी, दुःखी, अशान्त, शोकाकुल, सदा आपसी संघर्षों में लिप्त, धन सम्पत्ति के रहने पर भी लौकिक सभी सुख सुविधाओं से वञ्चित, दरिद्रता की मूर्ति देखा जाता

है। उसका कोई सही मित्र नहीं होता। वह आजीवन अशान्त रहता है और दूसरों को भी अशान्त करता रहता है। दृष्टि फैलाने से परस्पर विरोधी स्वभाव वाले ऐसे दो प्रकार के व्यक्ति परिवार समाज देश और राष्ट्र भी मिल जायेंगें। मिश्रित स्थिति वाले व्यक्ति आदि अधिक मिलते हैं। उपर्युक्त परस्पर विरोधी व्यक्ति आदि का बाहरी ढांचा एक सा होता है पर उनके अन्तर्मन में अन्तर रहता है। उस अन्तर के फलस्वरूप एक को बाह्य जगत् रमणीय दिखाई पड़ता है और दूसरे को सदा क्लेशमय। जब कि बाह्य जगत् एक सा ही रहता है। अन्तर्मन में भेद डालने वाला कारण बाह्य अनुभव माना जाता है किन्तु बाह्य अनुभव में भेद करने वाला भी अन्तर्मन ही माना गया है।

जब मानव-मानव एक ही है तो अन्तर्मन की बनावट में यह चिरन्तन भेद क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए अन्तर्मन की कोई आन्तरिक विशेषता माननी पड़ती है। उसे हम किसी भी रूप से देख नहीं पाते इसी से उसकी संज्ञा अदृष्ट रखते हैं। यदि उसके कार्य धनात्मक होते हैं तो धर्म और ऋणात्मक होते हैं तो अधर्म कहते हैं। उपकार से प्रभावित किसी मन की शुभ प्रतिक्रिया उपकारी के मन पर अज्ञात रूप से पड़ती है। अपकार का प्रभाव भी ऐसा ही होता है। यह सिद्धान्त मनोविज्ञान को मान्य है। इसे हम भाव-सम्प्रेषण का सिद्धान्त कह सकते हैं। कभी कभी शुभ अशुभ फल जल्दी मिल जाते हैं। हत्यारा किसी निमित्त से मारा जाता है या दुर्घटना मे मरता है, कुछ दान करके कोई व्यक्ति असाध्य रोग से छूट जाता है।

फल प्राप्ति में मन पर पड़ी हुई उक्त प्रतिक्रिया सहायक होती है ऐसा मनोविज्ञान मानता है। कोई भी शुभकर्म लगातार बहुत समय तक होने पर कर्ता में एक शुभभाव बन जाता है। वह शुभभाव देशान्तर कालान्तर में भी उसे शुभता की ओर ही खींचता है। मिश्रित और निन्दित कर्मों का भी प्रभाव ऐसा ही होता है। यह प्रभाव दूसरे जन्म में भी काम आता है। मनोविज्ञान को जन्मान्तर स्वीकार करने में कोई दिक्कत नहीं है। क्योंकि आत्मा के स्थान पर क्षणिक विज्ञानधारा स्वीकार करने वाले बौद्धों ने पुनर्जन्म स्वीकार किया है। इसी सिद्धान्त पर उनकी जातक कथा आधारित है। मनोविज्ञान और क्षणिक विज्ञान धारा एक ही चिन्तन है। उपर्युक्त प्रकार

से कर्ता पर पड़ने वाला विविध कर्मों का स्थायी प्रभाव अदृष्ट भी कहा जा सकता है। वही शुभ होने से धर्म या पुण्य और अशुभ होने से अधर्म या पाप भी कहा जायेगा।

यह अदृष्ट अनुभवों के सूक्ष्मरूप उन संस्कारों से भिन्न है जो स्मृति उत्पन्न करते हैं। संस्कार से केवल स्मरण होता है जब कि अदृष्ट से कर्मों के शुभाशुभफल प्राप्त होते हैं। उदाहरण से समझें। राजा दशरथ ने अज्ञानवश ऋषिकुमार श्रवण को मारा। उसके माता-पिता ने पुत्र वियोग से प्रणान्त का शाप दिया। प्राणान्त समय में राजा को अपने अपराध का और शाप का भी स्मरण हो आया। राजा ने कहा कि वह शाप ही मुझे मार रहा है। कथन ठीक ही था। शाप के अभाव में उसी लोकाभिराम पुत्र राम के वियोग में माता जीवित रह गयी।

स्मृति इतिहास पुराण ग्रन्थों में नाना कथानकों द्वारा विस्तार से वर्णित धर्माधर्म उपर्युक्त तर्कसम्मत धर्माधर्म से भिन्न नहीं है पर वह विशाल और व्यापक है। उसमें अनेक क्रान्तदर्शी ऋषिमुनियों का अनुभव समाहित है। उक्त ग्रन्थों में प्ररोचन के लिए कथानक में कुछ अति रञ्जन भी हो सकता है। ऐसी मान्यता पहले से ही चली आ रही है।

कहा जाता है कि धर्म अपना फल देकर समाप्त हो जाता है। अधर्म का भी यही नियम है। मनुष्य धन के लिये जी तोड़ प्रयत्न करता है किन्तु उसका जो एक आर्थिक स्तर प्रकृति ने बना रखा है वह नहीं बदलता। उसका कोई दुश्मन होता है जो उसका नुकसान करता रहता है। नुकसान की भी सीमा होती है। दुश्मन उसे लांघ नहीं पाता। आर्थिक स्तर की और नुकसान की सीमा का नियमन जिस अज्ञात सत्ता से होता है वही उसका धर्म और अधर्म है।

इस धर्म और अधर्म को किसी रूप में किसी न किसी शब्द से संसार के सभी मनुष्य स्वीकार करते आये हैं। जो लोग खुली घोषणा करते हैं कि मैं धर्म अधर्म बिल्कुल नहीं मानता उनके भी व्यवहारों में कुछ रक्षात्मक और कुछ ध्वंसात्मक चेष्टायें देखने में आती हैं। समस्त चेष्टाओं को रक्षात्मक और ध्वंसात्मक इन दो भागों में बांटा जा सकता है। रक्षात्मक चेष्टाओं का मूल धर्म है और ध्वंसात्मक चेष्टाओं का मूल अधर्म है। कुछ

चेष्टाओं से अपनी रक्षा होती है और कुछ से दूसरों की, इसी प्रकार ध्वंस भी अपना और दूसरों का होता है। स्वरक्षात्मक धर्म सबमें होता है, पर-रक्षात्मक विरलों में। इसी प्रकार स्वध्वंसात्मक अधर्म सबमें होता है, पर-ध्वंसात्मक विरलों में। उदाहरण के लिये एक वानर यूथ लिया जा सकता है। उसमें एक यूथपति होता है। उसे वह पद अपने गुणों से सहज ही प्राप्त होता है। अपने पद का दायित्व वह सदा निभाता रहता है। उसमें पर-रक्षात्मक विशिष्ट धर्म रहता है। उसी यूथ में किसी बन्दरिया की नाक, किसी की ओठ और किसी की पूंछ कटी होती है। किसी की आंत बाहर आ गयी होती है। किसी के रोयें झड़े होते हैं। उन सबमें अधर्म की मात्रा ज्यादा होती है जिससे अपनी और दूसरों की हानि हुआ करती है। उसमें कोई सदस्य ऐसा भी होगा जो अपनी रक्षा में नहीं चूकता और दूसरों का नुकसान करता रहता है। उसमें स्वरक्षात्मक धर्म ज्यादा रहता है और पर-ध्वंसात्मक अधर्म कम। दूसरों के ध्वंस में दूसरों के अधर्म भी सहायक होते हैं। किसी बन्दरिया के दो में से एक बच्चा शीत से ठिठुरकर मर गया। एक नहीं मरा। एक का अधर्म ज्यादा था जो उसे शीत के रूप में मिला और दूसरे का अधर्म दुर्बल था जो उसे शीत में मार नहीं सका। धर्म ने उसे साथ दिया। बन्दरिया के धर्म ने भी उसे साथ दिया। बन्दरिया को दोनों सन्तान का भीषण वियोग नहीं होना था। उस यूथ में कुछ सदस्य बड़े ही सुन्दर सुडौल सौम्य और अपेक्षात्मक शान्त मिलेंगे जबकि कुछ सदस्य अपनी उग्रता से परिचित कुरूप और खुराफाती होंगे। जहां सुन्दरता रमणीयता शान्ति आदि गुण हैं वहाँ धर्म ज्यादा है और जहां विरोधी गुण ज्यादा हैं वहां अधर्म ज्यादा है।

जहां दृष्ट हेतुओं से किसी कार्य की उपपत्ति नहीं हो पाती वहाँ किसी अदृष्ट हेतु की कल्पना करनी पड़ती है। यदि उस अदृष्ट का कोई नाम रूप समझ में न आये तो उसे केवल अदृष्ट ही कहते हैं। जैसे किसी कुरुप दम्पति की कोई सुन्दर सन्तान हो जाये और महिला में परपुरुष संसर्ग की कल्पना का आधार न बन पाये तो मानस व्यभिचार की कल्पना करनी पड़ती है। मानस व्यभिचार गर्भ को प्रभावित करे इसके लिये उसकी एक असाधारण मानसिक अवस्था होती है जो ऋतुस्नानोपरान्त ही काम करती है। उस भावना को उपयुक्त समय प्रदान करना किसी व्यक्ति के वश की

बात नहीं है। वह जिसके वश में हो सकता है उसे हम केवल अदृष्ट कह सकते हैं। आगे यदि उस सन्तति से दम्पति को सुख होता है तो उस अदृष्ट को धर्म और यदि दुःख होता है तो अधर्म भी कह सकते हैं। शुक्रशोणितसंयोग से सन्तान होती है, यह सर्व विदित है। आनुवंशिकता के नियम भी सब जानते हैं किन्तु किसी जातक के सम्पूर्ण शील स्वभाव और आयु का निर्धारण किसी दृष्टि आधार पर निर्भर नहीं है। ऐसी जगह हम दैव को कारण मानते हैं। दैव धर्म का ही एक रूप है। किसी सही दैवज्ञ का फलादेश धर्म की सत्ता बहुत अंशों में स्वीकार करा देता है। दैवज्ञ भावी कार्यकारण-सम्बन्धों को बहुत पहले बतला देता है।

भारतीय ऋषि-मुनियों ने अतीन्द्रिय धर्म को तपःपूत ज्ञान नेत्रों से बहुत निकट से देखा है। उन्होंने धर्म की रक्षा वृद्धि और सुधारों की आवश्यकता भी समझी है। इसके लिए बहुत से विधिनिषेधात्मक नियम बतलाये हैं। धर्म के कारण होने से वे नियम भी धर्म कहे गये हैं। मानवमात्र का एक ही धर्म होना चाहिये ऐसा ज्ञान उन्हें था। इसी से भारतीय धर्मग्रन्थों में मानवधर्मों का विस्तार से प्रतिपादन है। वह सन्दर्भ ऐसा नहीं है जो किसी को अमान्य हो या समझ में आने योग्य न हो। यह भी नहीं है कि वह सन्दर्भ न पढ़े होने से मानव को स्वधर्म का ज्ञान न हो रहा हो। एक पशु को भी स्वधर्म का ज्ञान होता है और वह उसका पालन करता है। एक मानव अपने धर्मों को स्वयं समझ सकता है। अर्थकामों की प्रबल आसक्ति ही धर्म के विरुद्ध सोचने आचरण करने और बोलने में कारण बनती है। इसी से मनु ने कहा है कि-''अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते। धर्मं जिज्ञासमानानाम् प्रमाणम् परमं श्रुतिः।''

कोई भी स्तनपायी शिशु जन्म के बाद माँ का दूध पीने लगता है और दूसरे जीव भी अपने-अपने आहार को पहचानते हैं एवं जातीय स्वभाव के अनुसार चबाकर या बिना चबाये आहार निगलने लगते हैं। एक तो किसी भी प्राणी के जन्म की प्रक्रिया एक अबूझ पहेली होती है। जन्म के बाद भी अपने आहार की पहचान और निगलने की प्रवृत्ति आश्चर्य का विषय होता है। हम नहीं समझ पाते कि आहार निगलने की सीख अत्यन्त अबोध शिशु को कैसे मिल जाती है। अन्त में यही मानना पड़ता है कि उसे जीना

है इससे पीना-खाना सीख जाता है। कुछ बच्चे जीवित जन्म लेते हैं किन्तु दूध नहीं पीते और मर जाते हैं। उनमें कोई रोग रहा करता है। ऐसे बच्चों के बारे में यह मानना पड़ता है कि उसे जीना नहीं था इसी से रोगी जन्मा और सही इलाज भी नहीं हो पाया। जिस कारण से जातक को जीना होता है वह उसका धर्म कहा जाता है और जिस कारण से उसे जन्म के बाद शीघ्र मर जाना होता है वह उसका अधर्म कहा जाता है।

यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए कि धर्म शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में होता है। एक अर्थ मुख्य है जिसकी चर्चा होती आ रही है। उसी का लक्षण वैशेषिक सूत्र में किया है-''यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः''। जिससे लौकिक सभी प्रकार के उत्कर्ष आरोग्य, व्यावहारिक ज्ञान, सभी प्रकार के धन, मित्र, बन्धु, बान्धव, भृत्य, दीर्घ-आयु, सन्तानपरम्परा आदि प्राप्त होते हैं और जिससे परम कल्याण मोक्ष पद प्राप्त होता है वह धर्म है। धर्म जितना बलवान होगा उसका फल उतना ही अधिक और सुन्दर होगा। धृतराष्ट्र का सन्तानदायक धर्म बहुत था किन्तु अधर्म का अंश भी उसमें था। इसी से एक सौ वीर पुत्र हुए। सौ वीर पुत्रों के पिता होने का गर्व भी बहुत समय तक रहा। अधर्म के अंश ने पुत्रों को अविवेकी और अल्पायु बनाया। धृतराष्ट्र को महान् पुत्रशोक भी हुआ। पाण्डु का सन्तानदायक पुण्य बहुत ही कम था किन्तु शुद्ध था। इसी से पाण्डु का औरस पुत्र नहीं हुआ। वे जीवन में कोई भी सन्तान नहीं देख पाये। किन्तु यशस्वी क्षेत्रज सन्तान से आज भी वे अमर हैं। इन दो उदाहरणों से बलाबल और शुद्धि-अशुद्धि से धर्म के अपरिमित भेद समझे जा सकते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि हमारे अनेक क्रियाकलापों से और शुभाशुभ फल भोगों से धर्म और अधर्म में सतत परिवर्तन होते रहते हैं। सदा अतीन्द्रिय धर्म और अधर्म को हम लक्षणों और कार्यों से समझते हैं। सुन्दर आकृति और उत्तम स्वभाव धर्म के लक्षण हैं एवं सभी प्रकार के लौकिक वैभव धर्म के कार्य हैं। अधर्म के लक्षण और कार्य इसके विपरीत होंगे।

धर्म के प्रति आस्था होने पर उत्तम और सुदृढ़ धर्म अर्जित करने की इच्छा होती है। तब धर्म के उपायों की जानकारी की जाती है। तब

वर्तमान देश, काल, परिस्थिति और मनःस्थिति के अनुरूप कुछ उपायों का चयन होता है। तामस मन क्षुद्र और निन्दित उपायों का वरण करता है। उसके द्वारा अर्जित धर्म क्षुद्र और निन्दित फल प्रस्तुत करता है। रजोगुणी मन खर्चीला आयाससाध्य और देर तक चलने वाला उपाय चुनता है। उसका फल महान् होता है। वह अधिकतर बाहरी वैभव प्रस्तुत करता है। सात्त्विक मन ज्ञानवैराग्यप्रधान उपायों का अवलम्बन करता है। वह हिंसा और आयास से बचता है। वह अधिक द्रव्यव्यय पर भी भरोसा नहीं रखता। वह गाता है-

''पत्रेषु पुष्पेषु फलेषु तोयेष्वक्रीतलभ्येषु सदैव सत्सु।
भक्त्येकलभ्ये पुरुषे पुराणे मुक्त्यै कथं न क्रियते प्रयत्नः।।''

वह भावशुद्धि पर भरोसा रखता है। वह सब से बड़े देवता परमात्मा की पूजा उत्तम भाव रूपी फूलों से करता है। भावों को संवारने के लिए बाहरी फल-फूलों का भी सहारा ले लेता है। धर्म के ये जितने उपाय हैं वे सब भी धर्म कहे जाते हैं। मीमांसकों ने उपायों को ही धर्म की संज्ञा दी है। वे कहते हैं कि शास्त्रों ने जो भी कुछ करने का विधान किया है वह धर्म है और जो कुछ मना किया है वह अधर्म है। ''श्रुत्यादिविहितो धर्मो निषिद्धोऽधर्म उच्यते'' इत्यादि धर्म-शास्त्र ग्रन्थों में उपायरूप धर्म का ही विधान है। धर्म का उपाय, धर्म शब्द का दूसरा अर्थ है। किसी भी उपाय में कुछ श्रम होता है। कुछ धन लगता है। समय भी देना पड़ता है। यदि फल सामने हो और वह ज्यादा पसन्द हो तो श्रम धन और समय का विनियोग होता है। अन्यथा दूसरों की प्रेरणा से या संकोच से प्रवृत्ति होती है। यदि फल ज्यादा पसन्द न हो, किसी का संकोच भी न हो तो उपाय में प्रवृत्ति नहीं होती। इसी से कुछ लोग अध्ययन से विमुख रह जाते हैं। कुछ लोग अकर्मण्य और दरिद्र रह जाते हैं। कुछ लोग विवाह नहीं करते। वंश की इच्छा नहीं होती। इस प्रकार कुसंस्कारवश दृष्ट फलों में भी अनिच्छा देखी जाती है। धर्म सदा अदृष्ट है। वह दिखाई नहीं पड़ता। उसके लक्षण और कार्यों से उसका सम्बन्ध भी हर किसी की समझ में नहीं आता। इससे उसके प्रति आसक्ति जल्दी नहीं होती। उपाय में भी प्रवृत्ति नहीं होती। जो लोग उपायों में लगे हों उनके प्रति उपहास भी होता है। उपायों के विरुद्ध तर्क भी प्रस्तुत होते हैं। कहा जाता है कि पढ़ने वाले मर

जाते हैं, धनहीन भी होते हैं, कोई नहीं पूछता है। यह दृष्टफल विद्या के प्रति उपहास और कुतर्क है। अदृष्ट फल धर्म के प्रति उपहास और कुतर्क तो बहुत सहज है। जात-पात में क्या धरा है? हिन्दू मुस्लिम भेद कैसा ? कुत्ता अछूत नहीं तो आदमी कैसे अछूत होता है ? जाड़े में सुबह नहाने में क्या लाभ है ? दान देकर अकर्मण्यता क्यों बढ़ाते हो ? नाक दाबने से क्या होता है।

प्रत्यक्ष छोड़कर अप्रामाणिक अलभ्य परोक्षका ध्यान करना मूर्खता है। चोटी और जनेऊ से क्या होता है। ऊँचाई पर चढ़कर चिल्लाने से क्या अल्लाह तुम्हारे पास दौड़ा आता है ? क्रास क्यों पहनते हो। ऐसे कुतर्कों के चक्रव्यूह से उबरना दुर्बल चित्त के लिए असम्भव है। इसी से लोग नास्तिक हो जाते हैं। अपनी दुर्भावनाओं को सजाने के लिए एक अच्छी संज्ञा जोड़ लेते हैं। आगे चलकर धर्मनिरपेक्षता का एक पुछल्ला भी बाँध लेते हैं। उस पर उन्हें बड़ी ममता भी होती है। ''कपि के ममता पूंछ पर।''

तीसरे प्रकार का धर्म

जिन्हें धर्म के प्रति और धर्म के उपायों के प्रति तनिक भी आस्था नहीं है उनकी भी रक्षा उनका धर्म ही करता है। उनकी रक्षा के लिए रक्षात्मक दृष्ट फलों का सिलसिला कायम रखता है। तन्दुरुस्ती बनी रहती है। पत्नी नहीं मरती। मित्र साथ नहीं छोड़ते। आज्ञाकारी अनेक पुत्र भी होते हैं। धन भी नहीं घटता, ऐसे लोग भी देखे जाते हैं। जिन परिस्थितियों से और सम्बन्धों से वे सुखी और सुरक्षित होते हैं वे उनके धर्म हैं। दिखाई पड़ते हैं इससे एवं धारणात्मक होने से धर्म मानने में उन्हें भी कोई आपत्ति नहीं होती। धर्म का कार्य होने से धर्म कहना उचित भी है। धर्म शब्द का यह तीसरा अर्थ है जो तीसरे स्तर की मानसिकता वालों के लिए प्रत्यक्ष है।

पीछे हम समझ चुके हैं कि धर्मयुक्त व्यक्ति को लौकिक सुख-सुविधा की कमी नहीं होती है। इससे यह भी मानना पड़ता है कि यदि किसी की गाय ज्यादा दूध देती है तो उसका धर्म भी चारा भूसा को साथ देता है। उसका धर्म गाय के स्वभाव में भी मृदुता लाता है। फटने की स्थिति में भी

कभी-कभी दूध फटने से बच जाता है। पिया हुआ दूध पच जाता है, पुष्टि होती है, प्रज्ञा और मेधा की वृद्धि होती है, कफ दोष नहीं होता, गैस नहीं बनती। दही, मक्खन का भी अच्छा परिणाम होता है। दूध खरीदने वाले भी पैसे समय पर पूरा दे देते हैं। गाय के बिसुकने से पहले ही दूसरी गाय ब्या जाती है। दूध का सिलसिला जारी रहता है। चिरकाल अनुकूल स्थिति कायम रहने में अवश्य ही उसका धर्म उसे साथ देता है।

गाय के समान ही घर मकान लड़के, बच्चे, गाड़ी, घोड़ा, जमीन-जायदाद उसे अनुकूल रूप में और उत्तरोत्तर विकासशील रूप में प्राप्त होते हैं। कल्पना कीजिए कि गाँव के बाहर बहुत दूर उसका चने का खेत है। अच्छी उपज है। फलियाँ लुभावनी हैं। यातायात का मार्ग भी निकट है। रखवाला कम ही उपस्थित रहता है पर कोई जाकर पौधा उखाड़ने की हिम्मत नहीं करता। वहीं पर दूसरे कई लोगों के खेत उखाड़े भी जाते हैं। वहाँ खेत की रक्षा उसका नित्य अदृष्ट धर्म ही करता है। कभी-कभी ऐसा भी देखा-सुना जाता है कि किसी भले आदमी का खेत चोर लोग पूरा काट कर ले गये किन्तु मालिक ने जब उदास मन से अवशेष का संग्रह किया तो उसे लगभग उतना ही अन्न मिला जितने की उसे कल्पना थी। ऐसी सत्य घटनाओं पर यह मानना पड़ता है कि खेत में चोरों का भाग भी बहुत था और मालिक का तो था ही। चोरों के भाग में मालिक का पाप भी चिपका था। चोरी की स्थिति में भी धन न घटना धर्म की ही व्यवस्था है।

जैसे, व्यक्ति का वैभव उसके धर्म पर निर्भर करता है वैसे ही परिवार समाज देश और राष्ट्र का भी वैभव उनके धर्म पर ही निर्भर करता है। दो राष्ट्रों के अदृष्ट अलग-अलग नहीं होने से ऐसा नहीं होता कि एक राष्ट्र कच्चा नरमांस खा रहा हो और दूसरा विविध पेयपदार्थ पी रहा हो, एक राष्ट्र संहार की सामग्री अधिक काल से अधिक मात्रा में तैयार करता जा रहा हो और दूसरा राष्ट्र समाज को असंख्य सुख सुविधाओं की सामग्री भेंट करने में लिप्त हो। यही सब देख कर मानव मानव एक समान का नारा फीका मालुम पड़ता है। परस्पर भिन्न दो राष्ट्रों का भौगोलिक वातावरण इतना भिन्न नहीं होता कि दोनों राष्ट्रों के निवासी चिरकाल तक परस्पर विपरीत सोचा करें। अस्तु, यह तो प्रासंगिक राष्ट्रधर्म या किसी राष्ट्र के अदृष्ट की बात हुई। राष्ट्र के धर्म से भी महान् एक विश्व का

धर्म या अदृष्ट होगा। उसमें सृष्टि के आरम्भ से पृथ्वी की आयुतक पृथ्वी पर होने वाले मनुष्यों और ८० लाख जातियों में विभक्त अन्य प्राणियों के जीवनक्रम का लेखा-जोखा होगा। क्या, मान लिया जाये कि ऐसा भी कोई अदृष्ट हो सकता है ? मानने में कठिनाई यह है कि उतने बड़े धर्म या अदृष्ट का लेखा-जोखा किसकी डायरी में होगा और डायरी जिस अट्टालिका में रखी होगी। उसका आकार कितना बड़ा होगा। उस डायरी की देखभाल कौन करेगा। क्योंकि माना जाता है कि जीव अनन्त हैं। उनकी संख्या नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में असंख्य जीवों के असंख्य जन्मों का वृत्तान्त कैसे संकलित हो सकता है। इसी प्रकार इस कठिनाई का विस्तार और भी सोचा जा सकता है।

यहाँ उत्तर देने में उन लोगों को कुछ सुविधा समझ में आयेगी जो पुनर्जन्म का सिद्धान्त नहीं मानते और मानवेतर प्राणियों में कर्मफल की भी कल्पना नहीं करते। उनकी दृष्टि में मानवेतर प्राणी केवल मानव के उपयोग के लिये हैं। किन्तु यह मान्यता केवल आंशिक धर्मनिरपेक्षता है। धर्म को एक जंगली जानवर की भाँति पकड़कर किसी छोटी सी कोठरी में बन्द कर देना जैसा है। मानवशरीर का भी उपयोग जीवित जाग्रत्, सुषुप्त और मृत अवस्थाओं में विविध जन्तुओं द्वारा होता हुआ देखा जाता है। धर्म को बहुत व्यापक रूप दिये बिना समाधान सम्भव नहीं है।

अनन्तता से सम्बन्धित कठिनाई का समाधान बहुत सुलभ है। इसके लिए गुरुत्वाकर्षणसिद्धान्त को थोड़ा व्यापक रूप देना होगा। धर्म का तत्त्व भी यहीं छिपा है। मुख्य धर्म, उपायरूप धर्म और फलरूप धर्म भी एक ही गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त पर निर्भर है। अवश्य ही इस सिद्धान्त को विस्तार से धर्म की कक्षा में ही समझा जा सकता है।

यह तो मानना ही पड़ता है कि विश्व में जितने भी पदार्थ हैं उन सब में परमात्मा की थोड़ी सी शक्ति विराजमान है। उस शक्ति से ही पृथ्वी हमको धारण करती है, जल तृप्ति देता है, तेज हमारा आहार पचाता है, वायु हमें अनुप्राणित रखता है और आकाश की महती कृपा से हम और हमारे शब्द एवम् पृथ्वी आदि सभी द्रव्य सञ्चरण करते हैं। केवल स्थूल पदार्थों में ही शक्ति नहीं है, अमूर्त पदार्थ गुण क्रिया आदि में भी अपनी

प्रचुर शक्ति परमात्मा ने भर रखी है। आप एक मुस्कान से किसी को जीवन भर अपना अनुयायी बना सकते हैं और अपनी नाक भौंह की एक क्षणिक विकृति से किसी को सदा के लिए दूर कर सकते हैं। उपर्युक्त शक्तियाँ सर्वविदित हैं इससे इनमें विवाद नहीं है। अब विवाद योग्य होने पर भी निर्विवाद शक्तियों का उदाहरण लें। सूर्य में कौन ऐसी शक्ति है जिससे हमारी पृथ्वी एक नियत दूरी और नियत झुकाव पर उसकी सतत परिक्रमा के लिए बाध्य है। चन्द्रमा कैसे औषधियों का पोषण करता है। शनि कैसे किसी बेगुनाह को साढ़ेसात साल तक रगड़ता रहता है और किसी को बड़ा नेता बना देता है। किसी ओषधी में क्या ऐसी शक्ति होती है जो सिर पर बाँधने से ज्वर उतार देती है। आदमी की हथेली में कौन ऐसी शक्ति है जो पाँच सात बार किसी रोगी पर फेरने से पीड़ा दूर हो जाती है।

वस्तुतः बार-बार के प्रयोगों से जिस मूर्त या अमूर्त पदार्थ में जैसी और जितनी शक्ति उपलब्ध होती है उसे उतनी मात्रा में स्वीकार करना पड़ता है। हम यह नहीं जानते कि सभी भारी पदार्थ भू-केन्द्र की ही ओर क्यों खिंचते हैं पर खिंचना देखकर आकर्षण शक्ति स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार कर्मों की भी दो अद्‌भुत शक्तियाँ होती हैं। एक तो वे कर्ता पर अदृष्ट रूप से अपना अधिकार कायम कर लेते हैं और दूसरी शक्ति से उपयुक्त समय पर उपयुक्त मात्रा में उपयुक्त रूप में अपना फल अपने चिर आश्रयभूत कर्ता को या उसके उत्तराधिकारी को उपलब्ध करा देते हैं।

जैसे गुरुभूत सभी द्रव्य भू-पृष्ठ पर गिरते ही हैं और भू-पृष्ठ पर ही गिरते हैं चन्द्र-पृष्ठ की ओर नहीं जाते वैसे ही शुभाशुभ कर्मों का भी अपना एक गुरुत्व होता जो कर्तारूपी भू-पृष्ठ पर फल रूप धारण करके गिर जाते हैं। जिसने कर्म नहीं किया है और जो कर्ता का उत्तराधिकारी या प्रतिनिधि नहीं है उसके पास नहीं जाते। यही बात बादरायण ने कही है-

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्,
एवम् पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुविन्दति।।

ऐसी स्थिति में जब कि कर्म ही अपनी शक्ति से अपने सारे फल कर्ता को दे देते हैं तब अनन्त संख्या से कोई अव्यवस्था की शंका नहीं रह

जाती। फिर भी परमात्मा ने यमलोक और पितृलोक की कल्पना करके और वहाँ पर्याप्त अधिकारी रखकर उपर्युक्त प्राकृतिक नियम का किसी तरह उल्लंघन न हो जाये इसकी व्यवस्था की है।

धर्म और अधर्म के मूल

सभी प्रकार के धर्मों का मूल श्रद्धा और दया है। अधर्मों का मूल मिथ्या अहंकार या घमण्ड है। श्रद्धा का लक्षण है-महनीये विषये प्रीतिः अथवा महनीयताप्रकारकज्ञानजन्या प्रीतिः। दया का लक्षण है-परदुःख-दुःखित्वम् अथवा परदुःखासहिष्णुत्वम्। किसी में महान् गुणों के होने का ज्ञान होता है। साथ ही कोई सम्बन्ध बनने पर उससे अपना हित होने की सम्भावना होती है या अपने जैसों का हित होने का ज्ञान होता है तब उस महान् गुणवान् के प्रति स्नेह होता है। यह स्नेह ही श्रद्धा कहा जाता है। यह श्रद्धा गुण सभी धर्मों का मूल है। यदि कोई दुःखी सामने पड़ जाये तो कुछ लोग उसका दुःख दूर करने का कोई उपाय करना चाहते हैं। क्योंकि दूसरे का दुःख उन्हें अच्छा नहीं लगता, वे उस दुःख से स्वयं दुःखी होने लगते हैं। इस प्रकार दूसरों के दुःख से स्वयं दुःख अनुभव करना दयानामक महान् गुण है। यह गुण हिंसात्मक पापों से बचाता है और परोपकार में भी लगाता है। इससे यह भी धर्म का मूल है।

धर्मशील व्यक्ति गुणज्ञ होते हैं। वे सबका आदर करते हैं। कुछ न कुछ गुण उन्हें सर्वत्र दिखाई पड़ता है। जहाँ गुण न समझ में आते हों वहाँ गुणों की कल्पना करके सम्मान देते हैं। अथवा किसी गुणवान् का सम्बन्ध देखते हुए सम्मान देते हैं। सामान्य गुणों को भी वे असाधारण मानते हैं। गुणों के महान् फलों पर ही उनका ध्यान जाता है। फलतः वे सर्वत्र श्रद्धा रखते हैं। उनके सारे व्यवहार सम्मानपूर्ण होते हैं। क्रोध की स्थिति में वे ऐसा कोई मार्ग तलाशते हैं जिससे क्रोध उन पर हावी न हो। क्रोध को भी वे अस्पृश्य चाण्डाल नहीं मानते, बल्कि महाकाल का अंश मानकर दूरसे प्रणाम करते हैं। यह स्वभाव उनको समाज से नहीं मिलता बल्कि जन्मजात होता है। श्रद्धावान् स्वतः दयावान् होता है। क्योंकि दुःख गुणों का विरोधी होता है जो कि गुणदर्शनव्यसनी को स्वयम् असह्य होता है। ऐसी श्रद्धा

चिरकाल अर्जित पुण्यों से होती है और आगे भी प्रचुर पुण्य अर्जन में सहायक होती है। श्रद्धा के बिना किसी देवता पर चढ़ाया हुआ फूल फल नहीं देता जब कि श्रद्धा से किया हुआ केवल प्रणाम महान् यज्ञ का फल देता है। इसीसे हमारे स्मृति इतिहास पुराण ग्रन्थों में देवता, वनस्पति, नदी, पर्वत, क्षेत्रविशेष और कालविशेष की महिमा विस्तार से वर्णित है। यदि वर्णन में कहीं अतिरञ्जन समझ में आता है तो वह ऋषियों की करुणा है न कि दम्भ। वर्णाश्रम व्यवस्था के पीछे भी श्रद्धा का पोषण ही उद्देश्य है न कि किसी वर्ण के द्वारा किसी वर्ण का शोषण। अवश्य ही दम्भियों द्वारा कहीं-कहीं श्रद्धा का नृशंस दोहन देखा जाता है। यह दोष बहुत प्राचीन है। रावण द्वारा सीताहरण, अर्जुन द्वारा सुभद्राहरण, राजा प्रतापभानु का किसी राक्षस के द्वारा घोर संकट में फंसना आदि उदाहरण हैं। अधर्म अपने फल देने के लिये धर्म के ही उपकरणों का सहारा लेता है। रिश्वत के लोभी मन्त्रीगण प्रजाहित की ही बातें बताया करते हैं। अधर्म-बहुल प्रजा उनके चंगुल में आ जाती है।

दया श्रद्धा की ही पुत्री है। ममता की नहीं। सन्तान में उत्तम गुणों का आरोप होता है। इससे उसमें ममता के साथ दया भी होती है। पाले हुए जिन पशु-पक्षियों में श्रद्धा नहीं होती उनकी हिंसा पालकों द्वारा हो जाती है। जो मनुष्य मांस भक्षण नहीं करते, हिंसा से विरत रहना चाहते हैं वे भी हिंसक पशुपक्षी कीटों को श्रद्धा न होने से अपने हाथ से मारते हैं। थोड़ी श्रद्धा होने पर अपने हाथ से नहीं मारते पर दूसरों को मारने से नहीं रोकते और मरते छटपटाते देखकर दुःखी नहीं होते। दुःखी न होने का कारण दोष-दृष्टिवश श्रद्धा का दब जाना है। गो भक्त लोग उनके यहाँ जाना और उनसे हाथ मिलाना पसन्द नहीं करते जो गाय खाते हैं। मानव मानवता को महान् गुण मानता है। इससे मानवमात्र पर श्रद्धा रखता है। गोभक्षण प्रभृति दोषों का ध्यान न होने पर एक मानव दूसरे मानव को अपने से ऊँची स्थिति में रखना चाहता है। ऐसी चाह का कारण एक मात्र श्रद्धा है। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि कोई छोटा बच्चा अपरिचित आगन्तुक की, उसकी प्रार्थना के बिना ही अधिक सहायता करने लग जाता है। किसी का मकान पूछने पर उंगली बतला कर विरत नहीं होता बल्कि स्नेहवश हाथ पकड़ कर मकान तक ले जाता है, मकान वाले

से बात कराता है और जाने की अनुमति तक रुका रहता है। बालक का यह व्यवहार मानव-धर्म है, इसका मूल मानवता के प्रति श्रद्धा है। इसकी शिक्षा उसे गर्भ में ही प्राप्त हो जाती है। बाद में द्वेष, ईर्ष्या, भय, लोभ, मोह आदि से उक्त धर्म का संकोच होने लगता है। श्रद्धा घटती है और दया भी मुँह छिपा लेती है।

दया का विषय निर्धारित करने के लिए यहाँ एक प्रश्न होता है कि क्या मानव की दृष्टि में मानवता ही सर्वोपरि गुण है ? प्राणित्व नहीं ? ऋषि मुनियों ने अनेक बार वन्यजीवों पर दया की है। साधारण मानव भी कभी-कभी किसी अपरिचित जीव को मरने से बचाता हुआ देखा जाता है। एवं कभी-कभी बल्कि ज्यादातर मानव बहुत संकीर्ण मानसिकता में पाया जाता है ऐसी स्थिति में कैसे समझा जाये कि एक मानव स्वभाववश किस गुण को महान् मानता है। यह भी हम कैसे समझें कि मानव की श्रद्धा का और दया का क्षेत्र वस्तुतः क्या है।

उत्तर है कि हमारी भावना हमारी दृष्टि की भाँति आवश्यकता और परिस्थितिवश सिकुड़ती और फैलती रहती है। यदि हमें विवेक है तो दृष्टि को फैलाव के अवसर पर फैलाते हैं और संकोच के अवसर पर सिकोड़ते हैं। विवेक के अभाव में हम उलटा भी कर सकते हैं। श्रद्धा के लिए वस्तु की और उसमें गुणों की वास्तविक सत्ता अपेक्षित नहीं होती। वह तो गुणोत्कर्ष की भावना से होती है। हम किस गुण को कब कितना महत्त्व दें यह हमारी विवेक बुद्धि पर निर्भर होता है। एक व्यक्ति में व्यापक और सीमित बहुत से गुण होते हैं। उसका जो गुण हमारी श्रद्धा का आलम्बन बनता है उसी का उल्लेख करना सामान्य अवसर पर उचित है। विशेष अवसर पर जहाँ श्रद्धा दोष बन रही हो वहाँ उसे अनदेखा रखना ही उचित है। जहाँ कोई व्यक्ति धृष्टतावश किसी पूज्य का अपमान कर रहा हो वहाँ उसकी मानवता को भूल कर धृष्टता का ही उल्लेख करना योग्य होगा। जब वह दण्ड पाकर दीन हो जाये तब उस पर मानवोचित उपचार शोभा देगा।

ऋषि मुनियों की वन्य जीवों पर गुणदृष्टि सान्निध्यातिशय से होती है। ग्राम्य नागर मानवों के लिए वह कम सम्भव है। अधिकांश मनुष्य रागद्वेषमय असंख्य विकारों से ग्रस्त होते हैं। उनकी मानवता दबी होती है।

इससे वे संकीर्ण-मानसिकता में मिलते हैं। मानव-धर्मोपयुक्त श्रद्धा का धनी नीरोग मानसिक स्थिति वाला व्यक्ति ही हो सकता है।

जानबूझ कर बार-बार किये जाने वाले बड़े अपराधों का मूल घमण्ड होता है। इसे मिथ्या अभिमान या झूठा बड़प्पन कहते हैं। यह एक घनीभूत अज्ञान होता है जिसका निवारण असम्भव या कठिन होता है। इसके बढ़ने में जन्मानुगत अधर्म सहायक होता है। अधर्म के रहते इसे समझाकर या दण्ड देकर भी दूर करना असम्भव होता है। यदि अधर्म हल्का हो, कुसंग भी अल्प हुआ हो, फलतः घमण्ड भी हल्का हो तो उचित दण्ड के बाद प्रबोधन से यह दोष दूर भी हो सकता है।

छोटा बालक अपने को वही समझता है जो उसे कह दिया जाता है। प्रेमवश या दुरभिसन्धिवश उसे बहादुर, पहलवान, दूसरों की मरम्मत करने वाला या दादा या बॉस कह दिया जाता है, तब वह अपने को वैसा ही मानने लगता है। दो चार अनुचित घटना के बाद यदि संयोगवश किसी भी पक्ष से प्रबल आपत्ति नहीं हुई तो वह अपने दुर्व्यवहारों को कर्तव्य मानने लगता है। फिर वह हिंसात्मक वर्ताव बढ़ाता ही जाता है। जैसे शिकारी को अपने शिकार की तड़पन देख कर सन्तुष्टि ही होती है, दया नहीं आती वैसे ही उद्धत बालकों को अपने हिंसात्मक या अपहरणात्मक व्यवहारों से पीड़ितों के आक्रोश अच्छे लगते हैं। इसी से अपराध प्रवृत्ति में वृद्धि होती है। घमण्ड बढ़ता जाता है। यदि प्रथम अपराध पर ही समुचित दण्ड हो जाये तो भी अधर्म की अधिकता की स्थिति में आगे भी अपराध होते ही रहते हैं और व्यक्ति कुख्यात अपराधी हो जाता है। ऐसे लोग कारागार की शोभा बढ़ाते हैं किन्तु धर्महीन शासन में न्याय दुर्बल पड़ जाता है और अपराधी लोग समाज में प्रतिष्ठा पाते हैं। धीरे-धीरे सारा समाज ही अपराधी हो जाता है। दण्डनीय और दण्डधर का भेद मिट जाता है।

ऐसे लोग भी अपराध में लिप्त पाये जाते हैं जो घमण्डी नहीं माने जाते, किन्तु अपराध क्षण में उनमें भी घमण्ड रहता है। किसी रमणी पर किसी युवक की दृष्टि पड़ी पर विवेक ने दबा दिया। दूसरी तीसरी बार दृष्टि पड़ते समय क्रमशः राग बढ़ता है और विवेक दबता है। आगे चलकर युवक रमणी को प्राप्त करने के सभी उपायों पर अपने को अधिकृत मानने

लगता है। यही उसका घमण्ड होता है जो अपराधों का कारण बनता है। चूहों पर आक्रमण के समय विलाव की जो भूमिका होती है वह आक्रमण से पहले और बाद में उस मृदुभाषी मिष्टाशी की नहीं होती। इतने से वह अहिंसक या सौम्य नहीं माना जा सकता। आगन्तुक राग-द्वेष से होने वाला घमण्ड समुचित उपचार से छूट जाता है। अधर्म-हेतुक घमण्ड जीवन साथी होता है। अवश्य ही सभी घमण्डों में न्यूनाधिक रूप में अधर्म और आगन्तुक राग द्वेष कारण होते हैं। विषय-सन्निधानजन्य राग-द्वेष आगन्तुक होते हैं। प्रथम दर्शन के भी अभाव में अनुकूल प्रतिकूल चिन्तन के कारण-भूत राग-द्वेष सहज होते हैं। दोनों प्रकार के राग-द्वेषों से बचाव के लिए यम नियम सहित विवेक सहायक होता है। विवेकी ही श्रद्धावान हो सकता है। वही धर्म अर्जित कर सकता है। वही सुखी हो सकता है। वही दूसरों का दुःख दूर कर सकता है।

समाज और धर्म

जहाँ-जहाँ रमणीयता, उपादेयता, सुन्दरता, दृढ़ता, स्थिरता आदि अनुकूल अवस्थायें हैं वहाँ-वहाँ धर्म बलवान् है। जहाँ ये अवस्थायें विघ्नयुक्त हैं वहाँ अधर्म का मिश्रण है और जहाँ उपचारों के होते हुए भी अनुकूल अवस्थायें नहीं बन पातीं वहाँ अधर्म बलवान् है ऐसा माना जाता है। दृष्ट हेतुओं से समस्त कार्यकारणभाव का निर्वाह न होने से अदृष्ट धर्माधर्म की कल्पना होती है, यह कहा जा चुका है। अच्छे आचरणों से धर्म उत्पन्न होता है। उसी से रक्षा होती है। अच्छे आचरणों को भी धर्म कहा जाता है। सभी धर्मों का मूल है श्रद्धा। सन्निहित उत्तम गुणों के प्रति श्रद्धा होती है। समाज के सभी लोगों के निकट यदि कोई श्रद्धा केन्द्र हो तो सभी धर्मानुष्ठान कर सकते हैं। त्रिगुणात्मक जगत् में सबकी श्रद्धा एक सी नहीं होती। इसलिए अनेक वर्ण वर्ग जाति सम्प्रदाय देवता तीर्थ पर्व त्योहारों की कल्पना हुई है। कहीं न कहीं किसी की श्रद्धा टिकती है। उसी श्रद्धा से वह धर्म अर्जित करता है। उसका अर्जित धर्म अपने ढंग का होता है। उससे उसकी रक्षा स्थिति और विकास भी अपने ढंग के होते हैं। श्रद्धा में तमोगुण के मिश्रण से धर्म में भी अधर्म का मिश्रण होता है। इसी से

बहुत से वैभव विघ्नयुक्त देखे जाते हैं।

सभी मानव प्रकृति से एक हैं किन्तु अदृष्ट कर्मप्रवाह प्रत्येक मानव को समाज से अलग कर देता है। हर एक शिशु एक अलग कर्मवासना लेकर जन्म पाता है। वह वासना ही जन्म के बाद उसे किसी कर्म की ओर इंगित कर देती है और वह वही कर्म करने लगता है। वासना विपुल गम्भीर और व्यापक होने पर कर्म भी वैसे ही होते हैं। क्षुद्र वासना वाले क्षुद्र कर्मों से कृतार्थ होते हैं। यद्यपि प्रत्येक मानव दूसरों से अत्यन्त भिन्न होता है पर व्यवहार के लिए और धर्म-पालन के लिए वर्गीकरण किया गया है। वर्ग चार, चालीस, चार सौ और चार हजार एवं उससे अधिक भी हैं। प्रत्येक वर्ग का अपना एक गुण और दोष भी है। गुण के ध्यान से श्रद्धा होती है। श्रद्धा से उसके अनुरूप कोई धर्म होता है और दोष के ध्यान से उस वर्ग से अलगाव कायम रखने की भावना को बल मिलता है। अपने धर्म की रक्षा के लिए अलगाव भी आवश्यक है। आजकल अधिकांश समाज अपने-अपने गुण कर्मों से दूर हटता जा रहा है। इससे गुण दोष समझ में नहीं आते। इससे अनेक भ्रान्तियाँ फैलती जा रही हैं। धर्म की कमी से समाज में धर्मानुष्ठान की रुचि और सुविधायें समाप्त होती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में रुचिशालियों को धर्म की वास्तविकता समझ लेना भी आंशिक धर्मानुष्ठान होगा। इसी विचार से आगे वर्णाश्रम पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

वर्णाश्रमधर्म

भारतवर्ष में वर्णाश्रम व्यवस्था देखी जा रही है। अन्य देशों में जैसे रंगभेद नहीं है वैसे वर्णभेद भी नहीं है। आश्रमभेद अभी बहुत कम देखने में आता है। प्रथम आश्रम के धर्मों का विधिवत् निर्वाह होने से आगे के आश्रमों के भी रूप बनते हैं। परिवर्तित समाज में प्रथम आश्रम ही विरूप हो गया है इससे आगे की स्थिति स्वयं नष्ट है। फिर भी समझ लेना अच्छा है।

अति सामान्य साधर्म्य से, असंख्य भेदों वाले समाज को चार वर्गों में बाँटने का प्रयास हुआ है। प्रत्येक वर्ग वर्ण कहा गया है। संस्कृत में वर्ण

शब्द का अर्थ होता है पहचान। आरम्भ में ही कुछ समूह किसी एक वर्ण में समाविष्ट होने की स्थिति में नहीं थे। वे वर्णबाह्य या पञ्चम कहे गये। इनकी भी बहुत सी जातियाँ हैं। कुछ समूहों में दो वर्णों के लक्षण मिले। वे वर्णसंकर कहलाये। कुछ वर्णसंकर दो वर्णों के योग से बाद में बने और आगे भी बनते जायेंगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण कहलाये। पञ्चमों और संकरों का दर्जा उनके गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार बना। वही उनके धर्मानुष्ठान का आधार हुआ।

प्रत्येक वर्ण की पहचान उनके वाचक शब्दों की व्युत्पत्ति से होती है। वेदाभ्यास, वेदार्थबोध, वैदिककर्मकाण्ड में प्रवृत्ति, स्वरूपबोध, जगत्सम्बन्धी मोक्ष-हेतु यथार्थ-ज्ञान, ब्रह्मज्ञान-निष्ठा और भगवद्भक्ति ये सभी अर्थ ब्राह्मण शब्द के हैं। ये सब एक ब्राह्मण की पहचान हैं। क्षत्रिय शब्द से रक्षात्मक-कार्यशील का बोध होता है। यहाँ राजनीति के व्यावहारिक ज्ञान और प्रयोग से तात्पर्य है। किसी राष्ट्र या प्रदेश के शासन का बागडोर वैध या अवैध उपायों से सम्हाल कर उसकी रक्षा और विकास के कार्य करना एवं कार्यसिद्धि के लिए अस्त्र शस्त्रों का संग्रह और उपयोग करना क्षत्रिय का स्वाभाविक कार्य है। एक सिपाही, एक चपरासी, एक दरवान भी क्षत्रियकार्य करता है । जीवनोपयोगी वस्तुओं के निर्माण संग्रह और वितरण में पूंजी लगाना, कृषि एवं गोरक्षा का व्यवसाय करना वैश्य शब्द का अर्थ है। थोड़ी सी पूंजी से कोई छोटा सा व्यवसाय चलाना, थोड़ा सा दूध घी बेच लेना या थोड़ी सी-जमीन में अच्छी खेती करके कुछ बेच लेना भी एक वैश्य की पहचान है। शूद्र शब्द के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ है दुःख-निवारण और दूसरा अर्थ है दुःखानुभव। शूद्रों के दो वर्ग होते हैं। पहला वर्ग यह ध्यान रखता है कि हमारे रहते समाज को दुःख न होने पाये। वह आनुवंशिक कलाओं से, रचनात्मक क्रिया कलाप से और शारीरिक सेवाओं से समाज के अभावों को दूर करने में रुचि लेता है। दूसरा वर्ग उदार नहीं होता, वह व्यक्तिगत क्षुद्रस्वार्थों में लिप्त रहता है इससे वह केवल कष्ट भोगता है। एक उदाहरण से समझा जा सकता है। गाँव में हजार की संख्या में बरात आयी है। पानी दूर है। पानी के बिना बरातियों को कष्ट होगा ऐसा समझ कर तटस्थ एक व्यक्ति मानवता के नाते घड़े तलाशता है, आदमी भी बुलाता है उन्हें मजदूरी स्वयं देने का बादा करता है और उनके

साथ पानी पहुँचाते-पहुँचाते रात बिता देता है। समय की कमी से वह अपने घर में भोजन नहीं करता। जल की अपेक्षित मात्रा पूरी किये बिना विवाह घर में भी उसे भोजन की नहीं सूझती। अवश्य ही वह मजदूरों को बारी-बारी से भोजन दिलवा देता है। सुबह आवश्यकता पूरी होने पर घड़ों को यथास्थान पहुँचा देता है और मजदूरी दिलवाते हुए मालिक को अपनी पूरी सेवा का व्यौरा सुना देता है। वह यह भी कहता है कि बरातियों को पानी की तनिक भी कमी नहीं हुई। मालिक यदि सहृदय उदार और सम्पन्न होता है तो उसे अच्छा पुरस्कार देता है। पुरस्कार को वह आनुषंगिक लाभ मानता है। उसका मुख्य लाभ था बरातियों का मुखोल्लास। वहीं का एक मजदूर समय न मिलने से घर पर भोजन नहीं कर सका। उसे तम्बाकू बनाकर डिबिया में भरने का भी अवसर नहीं दिया गया। पानी भरने के दौरान भी उसे तम्बाकू नहीं मिला। इससे काम के समय वह भूख और क्रोध से भरता जा रहा था। भोजन मिला उसे रात के साढ़े तीन बजे। रायता न मिलने से उसका सारा भोजन बेकार था। सारी रात उसकी कष्टों में कटी। यद्यपि पानी पहुँचाने में वह सबसे आगे था। उसकी बड़ाई भी हो रही थीं पर इससे इसे क्या मतलब। उसे तो उस आदमी पर चिढ़ हो रही थी जिसने उसे धोखा देकर काम पर लगाया। यहाँ एक ही सेवा से एक व्यक्ति बहुत प्रसन्न है और दूसरा चिरदुःखी। दूसरा यह दूसरे नम्बर का शूद्र है जिसे बाह्य जगत् दुःखमय दिखाई पड़ता है। पञ्चमों और संकरों को मनु ने अन्तराल कहा है क्योंकि ये अपने गुण कर्म स्वभावों से किन्हीं दो वर्गों के बीच दिखाई पड़ते हैं। इनके लक्षण और धर्म पहले बतलाये अनुसार ही हैं।

वर्गों की कल्पना और यथार्थ

जगत् के तीन रूप हैं। पारमार्थिक व्यावहारिक और प्रातिभासिक। एक महिला ने लोगों से मजाक के लिए पुलिस की बर्दी पहन ली। अब साधारण लोग उसे पुलिस मानने लगे। उसने गाली गलौज तलाशी और गिरफ्तारी शुरु की। आगे चलकर उसकी सखी ने हँसकर गिरफ्तार व्यक्ति को सही बात बतला दी। यथार्थ की जानकारी होने पर खूब हंसी हुई।

महिला का उद्देश्य पूरा हुआ। महिला का उद्देश्य मनोरञ्जन के सिवा किसी यथार्थ की जानकारी भी हो सकता है। यहाँ पुलिस का रूप प्रातिभासिक है। उसने दूसरों के साथ और अज्ञान में दूसरों ने उसके साथ जो व्यवहार किये वह उसका व्यावहारिक रूप है। उसकी सखी ने उसका जो तथ्य उपयुक्त अवसर पर बतलाया वह उसका पारमार्थिक रूप है। संसार के प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तु के ये तीन रूप होते हैं। एक समय में हम उन्हें किसी एक ही रूप में देख पाते हैं।

अब हम अपने रूप की ओर दृष्टिपात करें। अपने को हम कुछ बने ठने रूप में ही स्वीकार करते हैं और देखना चाहते हैं। अपना शुद्ध रूप जिसे आत्मा कहा जाता है वह तो हमें जल्दी स्वीकार भी नहीं होता। बनावट हमें ज्यादा अच्छी लगती है। सादगी को हम अपमान मानते हैं। हर एक बनावट किसी न किसी उपलब्धि के लिये होती है। सामान्य आकर्षण वश बनावट अपनायी जाती है, इससे हर एक बनावट वाला व्यक्ति लक्ष्य को जानता ही हो या प्राप्त ही कर लेगा ऐसा नहीं है। बहुत लोग स्वयं-सेवक का विल्ला खोंसे मिलते हैं किन्तु उनमें कुछ तो स्वयं ही सेवा प्राप्त करने को उत्कण्ठित रहते हैं। अधिकांश प्रतीक, आकार, वेश और भाषा में उसका आश्रयभूत तथ्य नहीं रहता। मनुष्य में दो महान् दोष होते हैं प्रमाद और कपट। प्रमाद से वह अपने उत्तम लक्ष्य का त्याग कर देता है और कपट से अपनी उत्तम भूमिका वेश भाषा पद अधिकार आदि का दुरुपयोग करता है। फलतः वह उस ऊँचाई को नहीं पाता है जिसके लिए अर्ह बनाया गया होता है। वह जो पाता है उसे प्रमादवश वास्तव लक्ष्य से अधिक महत्त्व देता है। मानव-मात्र का यह चिरन्तन दोष है। इसी से मानव की सृष्टि समान पुण्य पाप से मानी गयी है। ऐसी स्थिति में हम अपने को कितना सही समझ पाते हैं यह कहना कठिन है फिर भी यदि कोई हमारी बड़ाई करता है तो हम प्रसन्न हो जाते हैं और यदि कोई त्रुटि या दोष बतलाता है तो क्रोधित होते हैं।

जब हम प्रमादवश स्वयम् अपने को अपने लक्ष्य और उचित कर्तव्य को भूले रहते हैं तो सामने वाले को कैसे समझ पायेंगे कि यह ब्राह्मण है या चण्डाल, धर्मशील है या धर्मनिरपेक्ष या धर्महीन, राजकाज में सक्षम है

या रिश्वतखोर इत्यादि। ब्राह्मणादि वर्णों का आधार तो सत्त्वादि गुणों का तारतम्य, तारतम्याधीन फलापेक्षा और फलापेक्षानुरूप शास्त्रोक्तकर्म हैं। ये सब विषय सूक्ष्म हैं, सर्वसाधारण की समझ के परे हैं। मनुष्य अपनी फलापेक्षा को स्वयं नहीं समझ पाता, भूलता-बदलता रहता है। अवश्य ही उसकी भूल और बदलाव में एक साम्य रहा करता है। इसी से यह मान्यता है कि भूले हुए कुछ लोग अपने घर बापस हो जाते हैं। वर्णों की आनुवंशिकता के पीछे ये ही सब विरल आधार हैं।

परमात्मा बड़े ही कुतूहली हैं। वे ब्राह्मण घरों में चण्डाल भी उत्पन्न कर देते हैं। एवं चण्डाल घरों में अति उत्तम ब्राह्मण भी गुण-कर्म-स्वभाववश दिखाई पड़ते हैं। समाज सदा से रूढ़िवादी है। रुढ़ियों को तोड़ने में वह कभी सक्षम नहीं है। यदि कभी साहस कर के एक रूढ़ि तोड़ता है तो तीन नयी रूढ़ियों का फन्दा पहन लेता है। रूढ़ि-ग्रस्त होने के कारण ही वह ब्राह्मण चण्डाल को ब्राह्मण मानकर पूजता है और चण्डाल ब्राह्मण को चण्डाल मानकर उसके गुण-गौरव का अपमान करता है। उसकी पूजा निष्फल या कुफल होती है और अपमान का उसे प्रायश्चित्त करना या दण्ड भोगना पड़ता है। इन अनिष्टों के पीछे उसके प्रारब्ध का भी हाथ होता है।

प्रश्न यह था कि ब्राह्मण आदि वर्णों की मान्यता विवेकाधीन है या केवल परम्परागत भ्रान्ति। उत्तर हो गया कि आरम्भ में तो विवेक ने ही चतुर्वर्णों को सम्हाला था किन्तु आगे चलकर दम्भ पाखण्ड दल ने विवेक का भ्रान्ति-कामिनी से समझौता करा दिया। अब यदि कोई व्यक्ति दम्भ छोड़ कर आत्म-कल्याण के लिए कोई शास्त्रीय कर्म चुनना और करना चाहता है तो उसे स्वयम् अपने को समझना होगा कि मैं किस वर्ण का हूँ और कौन सा कर्म किस रूप से किसके निर्देशन में करना चाहिए। क्योंकि संकल्प के बिना कार्य नहीं होता। उक्त विचार ही संकल्प कहा जाता है।

वर्ण और जाति

ब्राह्मण आदि वर्णों का समावेश जातियों के ही अन्तर्गत है। जाति समझने से वर्ण भी समझ में आ जायेगा। जो तत्त्व व्यक्ति के जन्म से पहले और बाद में भी रहता है एवं समान के संग्रह और भिन्न के त्याग में

सहायक होता है, द्रव्य गुण और कर्म से भिन्न होने से वह जाति कहा जाता है। जैसे बहुत से तृणों में दूब की पहचान अलग होती है वैसे सभी ओषधियों की अलग-अलग पहचान होती है वैसे ही पशुपक्षियों और मनुष्यों की भी अलग-अलग पहचान होती है। अधिकांश जातियों की पहचान आँखों से ही हो जाती है, कुछ की पहचान पशु लोग घ्राण से कर लेते हैं। कुछ जातियाँ कार्यानुमेय होती हैं। उनकी जानकारी कार्य से होती है। यादव जी के बगान में बेल के दो पेड़ पास-पास हैं। डाल, पत्तों और कांटों में कोई ज्यादा फर्क समझ में नहीं आता फिर भी यादव जी दोनों पेड़ों की नस्ल अलग-अलग बतलाते हैं। उनका कहना है कि यह बड़ी नस्लवाला ढाई किलो का फल देता है और यह बहुत सेवा के बाद भी तीन पाव से बड़ा फल नहीं देता। यादव जी आदमियों की नस्ल में फर्क मानना नहीं चाहते किन्तु बगान के कंटीले पेड़ों ने उन्हें अपनी अलग-अलग नस्ल यानी जातियाँ मानने को मजबूर कर रखा है। वृक्षों का यह जातिभेद कार्यानुमेय है। फलों के अभाव में भेद समझ में नहीं आता। अत्यन्त समानता रहने पर भी अनादि वैषम्य जातिभेद का नियामक होता है। बंगाल का कोई वर्ण कश्मीर के किसी समान संज्ञावाले वर्ण के साथ विवाह सम्बन्ध करने की इच्छा तबतक नहीं करेगा जबतक वह असवर्ण विवाह के लिए तैयार न हो। जातियाँ षडिन्द्रिय-वेद्य मानी गयी है। यानी हमें नेत्र रसना घ्राण श्रोत्र त्वक् और मन से भी जातियों का पता लगता रहता है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्नों की असंख्य जातियों का पता हमें अपने मन से ही लगता है। संस्कारयुक्त मन काव्यानन्दों का जातीय तारतम्य पकड़ता रहता है इसी से उत्तम काव्यों की सृष्टि होती है।

जातियों का स्वरूप

वैशेषिक दर्शन में जातियों के सम्बन्ध में मान्यता है कि वह द्रव्य गुण और कर्म में होती है। वह नित्य भी है इससे द्रव्यादि की उत्पत्ति से पहले और नाश के बाद भी रहती है। इसी के अनुसार उनका लक्षण भी है-''नित्यम् अनेकानुगतं सामान्यम्'' अर्थात् जो पदार्थ नित्य होता हुआ अनेक में रहता है वह सामान्य कहा जाता है। समान द्रव्यादि का धर्म होने

से जाति को सामान्य कहा गया है। वह द्रव्यादि से अतिरिक्त चौथा पदार्थ है। दूसरे दार्शनिक लाघवानुरोध से जाति को चौथे पदार्थ के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहते एवम् उसकी नित्यता भी अनित्य द्रव्यादि में इन्हें स्वीकार नहीं है किन्तु वैशेषिकों के तर्क को तोड़ना आसान नहीं है। अप्रामाणिक जातियों की कल्पना न हो इसके लिए वैशेषिकों ने नियम बनाये हैं। उस नियम का संक्षिप्त भाव यह है कि एक ही व्यक्ति की कोई जाति नहीं होती अर्थात् जाति के लिए बहुत व्यक्ति होने चाहिए। दूसरा नियम है कि तुल्य आश्रयगत दो जातियाँ नहीं होतीं। जैसे घटत्व और कलशत्व दो जातियाँ नहीं हैं। तीसरे नियम के अनुसार एक दूसरे से अलग रहने वाले दो धर्म यदि किसी एक ही आश्रय में मिलते हों तो दोनों को जाति नहीं कहेंगे। उपाधि कह सकते हैं, जैसे भूतत्व और मूर्तत्व। जाति में कोई जाति नहीं मानी जाती। अन्यथा एक ही जाति में जातियों की अविश्रान्त धारा माननी पड़ेगी। जो पदार्थ निर्धर्मक रूप से ही मान्य है उसमें भी जाति नहीं होगी। द्रव्यगुणकर्म से अन्यत्र जाति नहीं होती। वहाँ जाति का सम्बन्ध समवाय नहीं बनता। इन छः विरोधों से मुक्त एवम् अनुभव गम्य धर्मों को जाति माना जा सकता है। ब्राह्मण आदि जातियाँ प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं। वे कार्यानुमेय हैं। जहाँ जातीय कार्य उपलब्ध नहीं हैं वहाँ जाति-स्वीकार का आधार आनुवंशिकता हो सकता है। किन्तु सफल जाति ही उपादेय होती है। वंश मात्र से कुछ नहीं होता। यदि कोई कुमार अपना जातीय पेशा करने की क्षमता अर्जित न कर पाया हो या उसे वह पेशा बिल्कुल पसन्द न हो तो उसका जातीय शब्द से उल्लेखमात्र हो सकता है। उल्लेख भी तभी होगा जब उसे जातीय उल्लेख अवमानना न समझ में आये।

कौन कौन सी जाति न मानी जाये

जो व्यक्ति जिस जाति को समझ नहीं पाता वह उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं हो सकता किन्तु जो किसी जाति को समझता हुआ भी केवल कण्ठ से उसे अस्वीकार करता है वह शील-हीन होगा या चरित्रहीन होगा या कोई राजनेता होगा या विक्षिप्त होगा। विरोधी आचरण देखने पर जाति स्वीकार नहीं होता किन्तु स्वीकार न होना और वस्तु का न होना इन

दोनों में महान् अन्तर है। ब्राह्मण कहलाने वाला कोई व्यक्ति यदि सूवर मुर्गा शराब आदि का सेवन करता है तो धर्म-निरपेक्ष शासन में उसके लिए कोई व्यवस्था नहीं है पर चूंकि वह ब्राह्मण था और अभक्ष्य वस्तुओं का सेवन कर चुका है इससे वह पतित ब्राह्मण कहा जायेगा। अमेध्यसेवी जातियों में उसका समावेश नहीं होगा। सड़ा हुआ अंगूर वेर की ढेर में नहीं मिलाया जाता। यदि अमेध्यसेवीवर्ग में कोई सन्त स्वभाव का व्यक्ति उत्पन्न हो जाये, उसमें ब्राह्मणोंचित गुण पाये जायें तो उसे उसके जातीय शब्द से पुकारने की या उल्लेख करने की इच्छा नहीं होती। उसके गुणों का सम्मान करने की इच्छा होती है। सम्मान करने की इच्छा तब बढ़ जाती है जब वह अपनी जातीय हीनता को नहीं भूलता और गुणों के प्रदर्शन से कतराता है। ऐसे व्यक्तियों को सिरपर ढोना धर्म है। अपमान करना घोर अपराध है। ऐसे लोग यदि जन्म से ही शुद्ध होते हैं तो वंश वाली जाति उनमें नहीं होती किन्तु अन्य किसी जाति में उनका भी समावेश नहीं होता। बड़े आकार के सुन्दर कागजी नीबू को जम्बीर में नहीं मिलाया जाता है। उससे नीबू का महत्त्व घटेगा।

आश्रम-भेद और उनके धर्म

आश्रम का माने होता है ठहराव या पड़ाव। वहाँ पर लोग दूर से आते हैं, कुछ समय ठहरते हैं और आगे चले जाते हैं। इसका दूसरा अर्थ होता है थकावट दूर करके सन्तुष्टि प्राप्त करने का स्थान। मानव-मन जन्म से मृत्यु-पर्यन्त लाखों अवस्थाओं से गुजरता है। शारीरिक अवस्थाओं के अनुरूप भी चित्त की अवस्थायें होती हैं। अभ्युदय-हेतु कर्म सम्पादन के लिए शरीर की चार अवस्थायें मानी गयी हैं। २५ वर्ष तक युवावस्था, ५० तक प्रौढावस्था, ७५ तक वृद्धावस्था और आगे जरावस्था। प्रत्येक अवस्था में मानव-चित्त अलग-अलग कार्य करना पसन्द करता है।

• ब्रह्मचर्य आश्रम

पहली अवस्था में वह कुछ सीखता और पाता है। अपने को महान् बनाना चाहता है। उचित सहयोग मिलने से महान् हो भी जाता है यही

ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म का माने महान् होता है। महान् बनने के लिए होने वाली चर्या ब्रह्मचर्य है। यह चर्या जहाँ विधवत् सम्पादित होती है उसे गुरुकुल कहते हैं। आज की शिक्षाशालायें गुरुकुल के ही विकृत और अति विकृति रूप है।

ब्रह्मचर्य की अवस्था में चित्त को असाधारण आत्मविश्वास रहता है जिससे जीवन को विकसित करने के कठिन साधनों का अनुष्ठान जप, पाठ स्मरण तप आदि होते हैं। २५ वर्ष की अवस्था तक चित्त इसी अध्ययन प्रधान क्रिया कलाप में टिका होता है इससे ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं। होनहार व्यक्ति इस चर्या को संकल्प बद्ध रूप से पूरा करता है। वही ब्रह्मचारी कहलाता है। धर्मशास्त्र इस चर्या को श्रद्धा के पुट में भर देता है इससे विद्या तेजस्वी होती है जिससे उसके द्वारा बोले गये मन्त्र सद्यः फल देते हैं।

• गृहस्थ आश्रम

युवावस्था में अर्जित योग्यता और अधिकार का उपयोग प्रौढावस्था में स्वाभाविक रूप से होता है। उपयोग के लिए आवास और पत्नी ये दोनों प्रथम आवश्यकतायें हैं। दोनों को गृह कहते हैं। दोनों में मन का अधिक लगाव होने से मनुष्य गृहस्थ कहलाता है। गृहस्थ अपनी जीविका के लिए जो साधन अपनाता है उसे गृहस्थी कहते हैं। अज्ञानवश उपयोग उपभोग बन जाता है, तब प्रमाद बढ़ता है। गुरु की आवश्यकता होती है। मनुष्य की इस सहज प्रवृत्ति में धर्म-शास्त्र कुछ सहयोग करके व्यक्ति को अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए अधिक सक्षम बना देता है। संयम और भोग इन दोनों को विषय और समय के भेद से नियन्त्रित करता है। यदि व्यक्ति परमार्थ पथ का पथिक होता है तो उसके सारे कार्यकलाप ईश्वरीय सेवा के रूप में होते हैं। इससे चित्तशुद्धि होती है और फलस्वरूप चित्त मुख्य लक्ष्य से विचलित नहीं होता। यदि व्यक्ति सामान्य स्तर का होता है तो उसके सारे कार्यकलाप समाज के लिए होते हैं। समाज से वह जो कुछ पा चुका होता है वह सब उससे अच्छा और उससे कुछ अधिक समाज में धरोहर के रूप में जमा कर देना अपने अगले जीवन के लिए आवश्यक समझता है। स्थूल दृष्टि से वह समाज के प्रति दायित्व निभाता है किन्तु वास्तव दृष्टि से वह सारा दायित्व अपने प्रति ही निभाता है। समाज खेत

की भाँति एक माध्यम मात्र होता है। धर्मशास्त्र व्यक्ति को दूरदर्शी बनाकर दूरगामी शुभ परिणाम प्राप्त करने में सक्षम बना देता है। इससे वह कालान्तर में अपनी योग्यता के अनुसार अभ्युदय या निःश्रेयस प्राप्त करता है। सन्तुष्टि-स्थान होने से गृहस्थ का कार्यकलाप ही गृहस्थाश्रम कहा जाता है। प्रत्येक भोग के बाद विरति होती है। यह नियम अन्य प्राणियों में भी समान रूप से लागू है। शारीरिक कतिपय ग्रन्थियों के स्राव भोगेच्छा, प्रयत्न, भोग और विरति के नियामक होते हैं। स्राव जारी होने से पहले तक विरति बनी रहती है। स्राव जारी होने से भोगेच्छा शुरु हो जाती है यहाँ भोग शब्द से शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन पाँच बाहरी और हजारों प्रकार के स्मृति चिन्तन और ध्यान रूप मानसिक भोगों से तात्पर्य है। प्रौढावस्था में मनुष्य का चित्त भोगेच्छा प्रयत्न भोग और विरति के चक्रवात में घूमता रहता है। इस घुमाव में कुछ सात्त्विक प्रकृति के लोग इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि विरति हमारा स्वरूप-प्रयुक्त सहज स्वभाव है, इसे जारी रखना चाहिए और भोगेच्छा अपने स्वरूप के विरुद्ध है, यह नाना उपाधियों से आती है अतः उपाधियों से बचते हुए भोगेच्छा से अपने को उबारकर अपने स्वरूप में अवस्थित रहना चाहिए।

• वानप्रस्थ आश्रम

ऐसा मानसिक निर्णय होने पर व्यक्ति उपाधियों से बचने के लिए नगर ग्रामों से सर्वथा सम्बन्ध तोड़ लेता है। नगर ग्रामों में तैयार अन्न वस्त्र और नमक तक का त्याग कर देता है। वन के किसी प्रान्त भाग में निवास करता हुआ मौन रह कर अपनी साधना में लगा रहता है। अपने लिए झोपड़ी नहीं बनाता। धूप वर्षा जाड़ा सहता रहता है। इनसे बचाव का उपाय नहीं करता, बल्कि मूसलधार वर्षा अपने शरीर पर पड़ने देता है। जाड़ों की रात पानी के अन्दर काटता है और जेठ की दोपहरी में अपने चारों ओर आग जलाकर मैदान में बैठता है, इतनी क्षमता लेकर ही वह गृह-त्याग करता है। अपने आप उगने वाले कुछ जंगली दानों से भूख मिटाता है। गृहस्थाश्रम में अग्निहोत्रादि जो धर्मकृत्य पत्नी के साथ करता था उसे वह जंगल में अकेले करता है। घर से अग्नि ले कर ही आता है। अग्निमात्र के लिए झोपड़ी बनाता है। यहाँ अग्निहोत्र प्राणायाम और ध्यान से साधक चित्तगत वासनाओं का नाश करता रहता है। यह कार्य वनप्रस्थ

यानी जंगल के किनारे ही सम्पादित होता है। इसमें चित्त को अच्छी सन्तुष्टि होती है। मुख्य लक्ष्य में चित्त का देर तक लगाव बना रहता है इससे इसे वानप्रस्थाश्रम कहते हैं। वासनाक्षय पूर्वक विरति-निष्ठा इस आश्रम का मुख्य उद्देश्य होता है। साधक को अपने उद्देश्य की प्राप्ति एक दिन समझ में आ जाती है। तब इस आश्रम का त्याग हो जाता है और संन्यास की अवस्था प्राप्त होती है। संन्यास शब्द में बहुत से अर्थ समाहित होते हैं। जितना अधिक अर्थ जीवन में उतरता है उतना ही संन्यास दृढ़ होता है। संन्यास चौथी और जीवन की अन्तिम अवस्था होती है। संन्यासी जीवित अवस्था में ही वासनाक्षय होने से मुक्त और ईश्वरतुल्य माना जाता है। संन्यास की तैयारी ही वानप्रस्थ की उपयोगिता है।

वानप्रस्थ की तपस्या से भोगों के प्रति और उनसे सम्बन्धित कर्मों के प्रति साधक का लगाव समाप्त हो जाता है। इससे चित्त में एक प्रकार की शुद्धि आती है। शुद्ध चित्त में अध्यात्मविद्या के प्रकरण वैसे ही प्रकाशित होते हैं जैसे स्वच्छ दर्पण में मुखबिम्ब। श्रीमद्भागवत महापुराण उच्चकोटि के संन्यासियों के लिए बना है। इसी से इसे पारमहंसी संहिता कहते हैं। संसारी जीवों को यह संहिता अच्छी नहीं लगती, न समझ में आती है किन्तु संन्यासी लोग जीवनपर्यन्त इस रस समुद्र में ही गोते लगाते रहते हैं।

• संन्यास आश्रम और उसके कर्तव्य

जिस दिन विरति स्थिर हो जाये उसी दिन संन्यास ले लेना चाहिए। ''यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रब्रजेत्'' शास्त्र वचन है। वानप्रस्थ धर्म पूरा होने पर ही संन्यास का अवसर बनता है, किन्तु बदले हुए युग में प्रथम दो आश्रमों के ही नियमों का पालन नहीं हो रहा है। वानप्रस्थ धर्म पहले ही बहुत कठिन माना जाता था। इस प्रकार प्रथम तीन आश्रमों के लोप से आज वास्तव संन्यास असम्भव है। वानप्रस्थ में शारीरिक तप की प्रधानता होती है और संन्यास में ज्ञान-निष्ठा रूप मानस तप की। आज कल दो तरह के संन्यासी देखे जाते हैं। एक वे हैं जो किसी प्रतिष्ठित संन्यासी-मठ के निर्वाह के लिए प्रार्थना पूर्वक बनाये जाते हैं। दूसरे वे होते हैं जो उन मठाधीशों के सुझाव पर घर छोड़ देते हैं और मठ की शोभा बढ़ाने के लिए वेष धारण कर लेते हैं। अध्यात्मविद्या का पारदर्शी व्यक्ति ही संन्यासधर्म का

पालन कर सकता है। क्योंकि ज्ञाननिष्ठा तभी सम्भव है, जो कि संन्यासी का मुख्य धर्म है। आज ऐसा नहीं देखा जा रहा है। शास्त्रों में संन्यास धर्मों का बहुत विस्तार से वर्णन है। सबका मुख्य फल ज्ञान-निष्ठा, तत्त्व-निष्ठा या स्वरूप-निष्ठा है। यही मोक्ष है जो प्रारब्धक्षय होने और देह त्याग होने पर प्रकाश के रूप में रह जाता है। चेतनतत्त्व अपने ज्ञानानन्दमय रूप को संसार अवस्था में अधूरा धुंधला और विघ्नयुक्त पाता है। कर्मबन्धन से छूटने पर वही उसे परिपूर्ण नित्य एकाकार रूप में उपलब्ध रहता है।

वर्णाश्रम-धर्म और अस्पृश्यता

अस्पृश्यता को हिन्दी में छूआछूत कहते हैं। विदेशियों ने भारतीय निम्न सांस्कृतिक स्तर के लोगों को अपने पक्ष में लेने के लिए बार-बार भड़काया और कहा कि मेरे यहाँ भारत की तरह छुआछूत और ऊँच-नीच का भेद नहीं है जब कि तुम्हारे भारत में तुम चाहे जितना बढ़ जाओ, अछूत ही रहोगे। ऊँचे लोग तुम्हारी छाया भी नहीं छूएँगें, पानी तो क्या पियेंगे आदि आदि। तब वे भड़कने लगे, वोट कटने लगे, यह देख सवर्णों ने उन्हें सम्हालने के लिए नाना प्रपञ्च रचने शुरु किये। असवर्ण विवाह, मन्दिर प्रवेश, असवर्णों के हाथ का भोजन और उसका प्रदर्शन उक्त प्रपञ्च के ही कुछ नमूने हैं।

पृथ्वी के बहुत से प्रदेशों में उत्तम, मध्यम, निकृष्ट नाना प्रकार की वनौषधियाँ उपलब्ध हैं किन्तु कुछ भूभागों में वह सब नहीं होती और कहीं विषैले जन्तुओं से भरे जंगल हैं तो कहीं जलहीन मरुस्थल हैं। पृथ्वी यद्यपि एक ही है किन्तु क्षेत्रभेद से उसके प्रभाव असंख्य हैं। ऐसे ही भारतवर्ष और अन्य देशों के मनुष्यों में भी अन्तर हैं। सभी भारतीय अंग्रेजों की तरह एक नहीं हैं, न हो सकते हैं। उनके शरीर की ही बनावट में अन्तर नहीं है बल्कि मानसिक बनावट भी बहुत भिन्न है। अंग्रेज इस तथ्य को न समझ पाते हों ऐसा नहीं है किन्तु बेईमानी और चोरी जैसी घातक मनःस्थिति से प्रेरित होकर वे भारत में रहते हुए अपना अज्ञान व आश्चर्य प्रकट करते हुए एवं अल्प अर्थ व्यय से असवर्णों को धर्मान्तरण जैसे दम्भपूर्ण झांसों में रखते हुए उन्हें अपने पक्ष में लेकर, विषैली शिक्षाओं से

उनके दुर्गुणों में बढ़ावा देकर दिन रात आतंकी घटनायें करा रहे हैं और कहते हैं कि हम ईसा के इशारे पर तुमको परमात्मा से मिला रहे हैं। इनकी देखादेखी दूसरे लोग भी इनसे मिलजुल कर अपने ढंग से कुछ काट-छांट करके इनका हृदय निकाल कर खा जाते हैं और खाली ढांचे से अपना हिंसात्मक उल्लू सीधा कराते रहते हैं। अज्ञानकल्पित राष्ट्रिय-धर्मनिरपेक्षता के वातावरण में ही यह सब सम्भव है इससे, पापमय धन से दूषित, राष्ट्र-द्रोही इनके एजेन्ट उक्त धर्मनिरपेक्षता की रखवाली वैसे ही कर रहे हैं जैसे मत्स्यव्याध अपने जाल की करता हो।

वास्तव में अस्पृश्यता विज्ञानसम्मत एक मानवीय विशेषता है जो मानवमात्र में न्यूनाधिक अवस्था में रहती हुई स्वयं में ऐसी घट-बढ़ कायम रखती है जिससे व्यवहार में कोई व्यवधान न हो। धर्मशास्त्र का इस पर शुरू से ध्यान है। भारतीय चिन्तन में अवश्य कुछ मानवमूर्तियाँ जन्म से ही अभिनन्दन सेवा पूजा का पात्र होती हैं एवं कुछ मूर्तियाँ जन्म से ही अस्पृश्य भी होती हैं। वास्तव में जन्म से कोई शुद्ध नहीं होता, संस्कार और सत्कर्मों से ही शुद्धि आती है। अस्पृश्य मूर्तियों के वंश में ऐसे भी व्यक्ति हो चुके हैं जो आज भी कुलीन विप्रों के द्वारा देवतुल्य दैनिक सेवा पूजा प्राप्त कर रहे हैं, एवं प्रमादपतित दुष्कर्मी ब्राह्मणों से ही निकृष्टतम चण्डाल जाति का ऐसा जन्म होता है जो आजीवन अपनी चण्डालता का निर्वाह करता पाया जाता है। पिता का दोष उसमें स्पष्ट लक्षित होता है। वह शास्त्रदृष्टि से यद्यपि अस्पृश्य होता है किन्तु अपने आनुवंशिक एवं व्यक्तिगत प्रभाव से पूज्यों के हाथ से भी आजीवन पूजित रहता है। अस्पृश्यता का अपमान केवल गरीबों को वैसे ही सहना पड़ता है जैसे ज्ञानशून्य गरीब ब्राह्मणों को घमण्डी धनपतियों के द्वारा सहना पड़ता है।

अपना कर्तव्य और अपना विभव मानव की खास पहचान होती है। अगली पीढ़ी के उत्कर्ष अपकर्ष में ये ही दो मूल कारण होते हैं। कर्तव्य से ही अस्पृश्यता आती है और कर्तव्य ही अस्पृश्यों को भी पूज्य बना देता है। प्रत्येक मानव कुछ अलग ज्ञान लेकर जन्म पाता है, समाज से वह थोड़ा ही लेता है। चण्डाल जैसे कर्तव्य ब्राह्मणों में भी देखे जाते हैं और चण्डालों में भी शीलवान् व्यक्ति मिलते हैं। गुण का आदर होता ही है। पत्थर पूजने

वाला भारत गुणहीनों की भी पूजा कर लेता है। अस्पृश्य माने जाने वाले व्यक्ति समाज में अपने गुणों से सदा से पूजा पा रहे हैं।

अस्पृश्यता वरदान

अस्पृश्यता दो तरह से वरदान रूप है। अस्पृश्य व्यक्ति समाज में अच्छा जीवन पाने के लिए गुण और धन अर्जित करने में अधिक रुचि लेता है और सवर्ण कहलाने वाले गुणहीनों से बहुत आगे बढ़कर आत्मसन्तोष प्राप्त करता है एवम् उसकी अस्पृश्यता में स्वतः कटौती होने लगती है। किसी को न छूने की बात कम ही लोग जानते और मानते हैं। चार दिनों के जीवन को प्रभु की सन्तुष्टि के योग्य बना लेना सबसे बड़ा काम है। वह योग्यता अपने को हृदय से छोटा मानते रहना है। यह काम उनके लिए आसान है जो प्रकृति से ही छोटे हैं। ब्राह्मणादि वर्णों के लिए यह काम बड़ा ही कठिन है। सन्तों का यह शास्त्रीय सिद्धान्त है कि निकृष्ट जन्म ही आत्मकल्याण के निकट होता है। यहाँ श्रीमद्भागवत का यह श्लोक ध्यान देने योग्य है-

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन पूजनीयः सदा हरिः।।

भावार्थ है कि सदा प्रभु की पूजा करते रहो, कैसे ? कभी बड़ा न बनो, दूसरों को बड़प्पन दिया करो, तिनके से भी नीचे झुक कर चलो, वृक्ष से भी अधिक सहनशील होओ, ऐसे में प्रभुकृपा शीघ्र मिलेगी, संसार बन्धन छूट जायेगा। जो व्यक्ति ईर्ष्या, स्पर्धा, दम्भ, कपट, मिथ्या महत्त्वाकांक्षा आदि दोषों से दूर है और छोटा होने से अपने को और ही छोटा मानता हुआ चल रहा है उसके लिए सांसारिक मायाजाल से निकलने के लिए बहुत से छिद्र मिल जाते हैं जब कि बड़े लोग फंसे ही रहते हैं। यह छोटों का दूसरा वरदान है।

अस्पृश्यता जन्मजात क्यों ?

प्रश्न होता है कि कोई बच्चा जन्म लेते ही अछूत कैसे हो जाता है। उत्तर है कि हर बच्चा जन्म के बाद अछूत होता है, शास्त्रीय संस्कारों से

उसमें धीरे-धीरे शुद्धि आती है। शुद्धि के भी बहुत से स्तर होते हैं। कल्पित अन्तिम स्तर की शुद्धि के अभाव में बहुत लोग विशेष अवसरों पर अशुद्ध मानकर अलग ही रखे जाते हैं। निम्न असवर्णों में संस्कार नहीं होते। वे संस्कार की कल्पना भी नहीं करते। वर्तमान भारत में सबको शुद्ध करके सबको बराबरी का दर्जा देने वाले अनेक संगठन चिरकाल से सक्रिय हैं। कुछ सफलता दिख भी रही है किन्तु वैसा धन्धा करने वाले अपने ही कुल गोत्र से उपेक्षित होते हैं, उनमें मौलिक किसी दोष की भी कल्पना होती है एवम् प्रशिक्षण और शुद्धि एक व्यवसाय का रूप लेकर बैठ जाती है। प्रगति नहीं हो पाती। इसका मूल कारण है जातीय दोष। जातीय दोष सभी जातियों के प्रत्येक व्यक्ति में होता है जिससे अपेक्षित प्रगति किसी की नहीं हो पाती। वास्तव में हमारे धर्मग्रन्थों के अनुसार सारे तत्त्व समान हैं, न कुछ शुद्ध है न अशुद्ध। किन्तु संसारवासनाग्रस्त जीवों के कल्याण के लिए पाप-पुण्य और शुद्ध-अशुद्ध की कल्पना की गयी है। गणितीय एवं वैज्ञानिक तथ्यों के बोध के लिए अ ब स द की कल्पना होती है। बोध के बाद कल्पना बेकार मानी जाती है किन्तु जो बेकार समझता है वही दूसरों को समझाने के लिए उसी बेकार अ ब स द का सहारा लेता है। आत्मा सदा निर्विकार सर्वत्र एकाकार है उसके साक्षात्कार के लिए ही भेदों की कल्पनायें हैं। साधनामार्ग में आगे बढ़ने पर ये सारे भेद झूठ हो जाते हैं। वैसे ही जैसे तन्दुरुस्ती आने पर आहार के शीत उष्ण आदि प्रभाव केवल शब्द में रहते हैं जबकि रोग की अवस्था में उन बातों का बहुत अर्थ होता है। अस्पृश्यता को एक ओर से दम्भपाखण्डग्रस्त रूढ़िवादी भारतीय कतिपय महापुरुषों ने और दूसरी ओर से विदेशी ईर्ष्या ग्रस्त म्लेच्छ लुब्धकों ने बढ़ावा देकर तिल का ताड़ बना रखा है। यह अपने आप में कुछ नहीं है। शास्त्रीय अस्पृश्यता को कोई प्रमाणाधीन चुनौती नहीं दी जा सकती।

धर्म की परख

धर्म को कई ओर से परखने की जरूरत है। हम बढ़ना चाहते हैं तो बढ़ने के लिए उपाय जुटाने एवं विघ्नों से बचने के लिए धर्म का सहारा लेते हैं। परख लेने से धर्म का सहारा मजबूत होगा, प्रगति भी निर्विघ्न होगी, आइये परखने की कोशिश करें।

वास्तव धर्म

मूल से सम्बन्ध होने से धर्म मौलिक कहा जाता है, वही वास्तव भी कहलाता है। विश्व के मूल या आधारभूत वस्तु को समझने में हम अपनी प्रज्ञा को जितना ही जोड़ेंगे उतना ही स्पष्ट रूप में धर्म हमारे हाथ लगेगा। यह नियम सभी धर्मावलम्बियों के लिए समान है। तत्त्वनिर्णय में विवाद इसलिए रह जाता है कि लोग तत्त्वनिर्णय को अपने द्वारा पालनीय धर्म का आधार मानना भूल जाते हैं। जो लोग नहीं भूलते वे लोकलाज से अपना पुराना वेश नहीं छोड़ पाते किन्तु भावना और भाषा बदल लेते हैं।

वृक्षमूल की भाँति स्थायी तत्त्व को वस्तु कहते हैं। बाजार से लेने की वस्तुओं में भी आपेक्षिक वस्तुत्व होता है। उस वस्तु को पाने के लिए हम यज्ञ दान तप योग में लगे रहते हैं और अनेक जन्मों के बाद पाने की कल्पना किये रहते हैं जब कि हमारे चारों ओर जो भी जड़-चेतन, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ परिवेश है उस सबके रूप में हमें रिझा कर अपनाने के लिए वह वस्तु स्वयं विराजमान है। उसका जो कुछ अतीन्द्रिय सूक्ष्म ज्ञानानन्दमय रूप है वही जड़ पदार्थों के नाना रूप धारण कर हमसे प्रेम से मिलने की सदा तैयारी में रहता है। बहुत जन्मों की तपस्या से पापों के कटने से जो हमारी समझ बनेगी उस समझ का यही रूप होगा। ऐसी स्थिति में सोचना पड़ता है कि कितना उदार है वह परम तत्त्व ! उसके लिए जिसका सिर बार-बार न झुकता हो वही सही पत्थर है। उसे वैसा पत्थर भी उस परम तत्त्व ने ही बना रखा है क्योंकि विरोधी कर्मों के रहते वह झुकने नहीं दे सकता। उसके सारे कर्मों की रक्षा वह परमतत्त्व ही करता है। हम बिल्कुल ही स्वतन्त्र नहीं हैं। हम झुकते हैं तो उसकी कृपा से और नहीं झुकते तो उसके कठोर संकल्प से। इससे यदि कोई न झुकता हो तो भी उसे हम झुकें, क्योंकि उसमें उस परमतत्त्व का दृढ़ संकल्प जुड़ा है। विश्व की प्रत्येक वस्तु को अपेक्षित देश काल अवस्था में, अपेक्षित रूप में रखने का संकल्प उस परम तत्त्व का बना ही रहता है। इतना ही नहीं, बल्कि अति सहृदय वह परमतत्त्व अपने को उन रूपों में अवस्थित भी मानता है। जैसे हम अपने अंगों को इच्छानुसार बना या बिगाड़ कर बैठते सोते हैं वैसे ही वह परमतत्त्व भी अपने अंगभूत सारे तत्त्वों को, चेतनों के

अनादि कर्मप्रवाहमय स्वेच्छा से बनाता बिगाड़ता हुआ व्यापक आनन्द लेता रहता है। वह परमतत्त्व अपने अद्भुत सामर्थ्य से अणु-अणु में रहता ही नहीं बल्कि अति निकट से स्पष्ट देखता भी रहता है। हम अपने शरीर के अधिकांश भागों को न तो देख पाते हैं न आरोग्य के लिए सम्हाल ही पाते हैं, ऐसी अधूरी उसकी शक्ति नहीं हैं। उसका स्वामित्व निरवधिक है, आंशिक नहीं है। इससे जिन वस्तुओं में हम ममता रखते हैं उनमें एवम् उनके आगे पीछे की सारी अवस्थाओं में उसकी ममता अति प्राचीन और अनन्त काल तक की है। इससे हमें मानना चाहिए कि कहीं भी हमारी स्वतन्त्रता मोह और ममता केवल हमारे अज्ञान से रहती है।

उक्त तथ्य को हृदय में धारण किये रहना वास्तव धर्म की पहली शिक्षा है। अगली शिक्षा है उक्त परमतत्त्व के साथ अपने सम्बन्धों को शास्त्रीय आधार से, सदाचार्यों के कृपापूर्ण उपदेश से समझ कर, समझ के अनुरूप प्रमाद रहित जीवन व्यतीत करना। इस वास्तव धर्म में ज्ञान की प्रधानता होती है।

शुद्ध धर्म

इस वास्तव धर्म के अंगीकार में, लौकिक व्यवहारों में, शास्त्रीय अनुष्ठानों में, जीवन पद्धति में और अपने पुरुषार्थों से सम्बन्धित बोध में कहीं भी आदि-मध्य-अन्त में अज्ञान, अनास्था, मोह, दम्भ, ईर्ष्या, असूया, लोभ, मत्सर आदि दोषों का मिश्रण न होने से यही शुद्ध धर्म भी कहा जाता है। फिर भी सामान्य रूप से शुद्ध शब्द से अर्थ काम निरपेक्षता समझी जाती है। शुद्ध कहने से सबसे पहले उन मान्यताओं का निषेध होता है जो राजनीतिक उद्देश्य से चलाये जाने वाले मजहवों का आधार होती हैं। मजहब अपने आपमें अच्छे हो सकते हैं किन्तु जब ये किसी कलुषित राजनीतिक मंसूबे के लिए लगा दिये जाते हैं तब उनका केबल ऊपरी ढांचा बच जाता है जो उस मुर्दे की वेशकीमती सजावट से अच्छा नहीं रह जाता जो दफन के लिए ले जाया जा रहा हो और बीच-बीच में उसमें घुसकर कोई प्रेत धमकियाँ सुना रहा हो।

अर्थलोलुप कामान्ध व्यक्ति चाहे जब भी जिस धर्म का अनुष्ठान करे उसका वह धर्म शवालंकारतुल्य ही होता है। इसी से मनु ने अर्थ कामपरायण व्यक्ति को धर्म के ज्ञान का अधिकारी नहीं माना है। ‘‘अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते’’ जिन्हें अर्थकामों में आसक्ति न हो उन्हें ही धर्म बतलाया जा सकता है। अर्थ काम की कुछ अपेक्षा सब को होती है। थोड़ी अपेक्षा धर्म को कम दूषित करती है किन्तु दस्युप्रकृति के लोगों की बढ़ी हुई अपेक्षा धर्म को अधर्म का रूप देकर उसे अन्तिम विनाश का साधन बना देती है, इससे अपना हित चाहने बालों को वह अध्ययन कर लेना चाहिए जिससे लौकिक अपेक्षायें कम होती हुई समाप्त हो जायें।

महान् धर्म

तप और त्याग के योग से उक्त वास्तव धर्म ही महान् हो जाता है, तब बहुत सी सिद्धियाँ स्वतः आती हैं और स्वर्ग आदि लोकों में प्रभाव फैलता है। प्रायः फैले प्रभावों का कुछ व्यक्तिगत लाभ उठाने की प्रवृत्ति हो जाती है जिससे महान् धर्म काममिश्रित होने से, शुद्धता और महत्ता खो जाने से व्यक्ति को धीरे-धीरे निम्न स्तर की ओर चलाने लगता है। प्रमाद न रुकने से सारा तप क्षीण हो जाता है और व्यक्ति पुनः सामान्य मानव रह जाता है। सिद्धि के सर्वोच्च्य स्तर पर भी प्रमाद होता है। बचाव का एक ही उपाय है भक्तिपूर्वक प्रार्थना।

मूल धर्म

विश्व के सारे देखे सुने गये धर्मों का एक ही निष्कर्ष मिलता है कि साधक अपनी प्रज्ञा मेधा के अनुसार आत्मकल्याण के लिए आलम्बन बने किसी अनिर्वचनीय महान् तत्त्व को किसी महान् व्यक्ति (गुरु) के द्वारा दृढ़ता से निष्ठापूर्वक समझ कर उसके लिए अपनी श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुसार पत्र पुष्प आदि लेकर उसकी स्तुति करता हुआ प्रणाम करे और हाथ में ली हुई वस्तु के साथ अपने आपको रक्षा के लिए उसके चरणों में सदा के लिए समर्पित कर दे। अपने समर्पण को दृढ़ता के लिए दुहराता रहे एवम् अपने को प्राप्त सामर्थ्य और विवेक से अपनी रक्षा के प्रति सदा

सावधान रहे। योग, यज्ञ, दान, व्रत, यम, नियम, संयम आदि सारे उपायों में जिसे जितना उपलब्ध हो वह उतने का पालन केवल उस महान् शक्ति की कृपा प्राप्त करने के लिए सावधानी के साथ करता रहे। सबके चित्त में चंचलता उग्रता का हेतु रजोगुण, एवम् प्रमाद आलस्य निद्रा का हेतु तमोगुण रहता है इससे जीवन में अपेक्षित प्रगति नहीं हो पाती। साधक को चाहिए कि अपने चित्त में स्थित उन गुणों को उनके कार्यों के द्वारा जानकर उन्हें दबाने के शास्त्रीय उपाय करता रहे। अपने चित्त की गतिविधियों पर ध्यान देना एक ऐसा उपाय है कि उससे वे गुण कम होकर सत्त्व की वृद्धि का अवसर बना देते हैं। उस परम शक्ति के नाम पर भी राजस तामस व्यवहार न करे।

कुछ लोग भ्रमवश धर्ममार्ग में स्वावलम्बन की दुहाई देते हुए स्तुति प्रणाम समर्पण आदि का विरोध करते हैं एवं कुछ लोग समर्पण की दुहाई देते हुए स्वावलम्बन का विरोध करते हैं। ये दोनों चिन्तन अधूरे हैं। जो कुछ प्रज्ञा मेधा प्राप्त है, जो स्थूल सम्पदा प्राप्त है, जो सहयोगी व्यक्ति गुरु सहाध्यायी आदि प्राप्त है उनका सदुपयोग यानी आत्मरक्षा के अनुरूप उनका उपयोग होता ही रहना चाहिए, यही उस महान् शक्ति का सम्मान है। एवं दर्प दुरभिमान की वृद्धि न हो, स्वरूपनिष्ठा बनी रहे इसके लिए, परतत्त्व को सदा निश्छल भाव से सिर झुकाते रहना चाहिए। मूलतत्त्व का कभी विस्मरण न होने से यही मूल धर्म कहलाता है। इस मूल धर्म पर विश्व के किसी भी मजहब को एतराज न होने से यह विश्वधर्म भी कहा जा सकता है।

उक्त मूलधर्म में सेव्य ध्येय उपास्य विश्रम्भयोग्य प्रामाणिक तत्त्व का वास्तव रूप क्या है ऐसा प्रश्न होता रहता है। इसका उत्तर प्रत्येक व्यक्ति की तात्कालिक भावना के अनुरूप भिन्न-भिन्न होता है। सबके लिए एकसा उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि यह आस्था का विषय है। उक्त तत्त्व का वास्तव रूप सब की बुद्धि पर चढ़ता रहता है किन्तु व्यक्ति उसे अपने प्रारब्ध के अनुरूप ही पकड़ पाता है। इस प्रश्न का विश्रम्भयोग्य समाधान जिस दिन हो जाता है उस दिन मुक्ति का मार्ग खुल जाता है। उक्त प्रश्न अपने आचार्य के समक्ष ही करना चाहिए। आचार्य की उपलब्धि और

चयन भी प्रारब्ध के अनुसार होता है। तत्त्वबोध भी प्रारब्ध के अनुरूप होता है। प्रारब्ध का क्षय भोग से होता है। भोग के अन्त में यथार्थ दृष्टि बनती है और तत्त्वदर्शी को परम कल्याण प्राप्त होता है। परमकल्याण का साधन मूल धर्म है। जो लोग जन्मान्तर, प्रारब्ध सञ्चित क्रियमाण कर्म, स्वर्गादिलोक, मोक्ष, उसकी स्वाधीनता ईश्वराधीनता आदि विषयों पर अधूरी और संकीर्ण कल्पना लिए हैं वे भी अपने व्यावहारिक ज्ञान से उक्त मूल धर्म को समञ्जसभाव से मानते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सारा विश्व एक महान् नित्य धर्म के सूत्र में बँधा है। मूल धर्म का चिन्तन एकता लाने का सर्वोत्तम साधन है किन्तु भेदवादियों को मिलाने का उपाय विश्व में उपलब्ध नहीं है।

नास्तिकवादी धर्म

प्रस्तुत मूलधर्म के प्रसंग में नास्तिकवाद और तदनुसारी धर्मों को भी जान लेना आवश्यक है। यथार्थ तत्त्व का हार्दिक स्वीकार महान् पुण्य से ही होता है। जहाँ-जहाँ अपनी मान्यता के विरुद्ध के प्रमाण प्रस्तुत होते हैं वहाँ-वहाँ के लोग भागते हुए यह कहते हैं कि हमारे गुरुदेव ने इसका उत्तर लिखा है, जब कि वे जानते हैं कि गुरु की सारी बातें कट चुकी हैं। सत्य के स्वीकार से उन्हें अपनी भूमिका के बिगड़ने का खतरा रहता है। अज्ञानमयी भी भूमिका बड़ी प्यारी होती है। इसी से प्रमाणों से नष्ट अज्ञान के भी मोहमलिन चित्रपटल जल पर काई की तरह बार-बार जमते रहने से श्रुतिविरुद्ध भी मान्यतायें चिरकाल से विश्व में चली आ रही हैं। **"अस्ति नास्ति दिष्टम् मतिः"** इस पाणिनिसूत्र के अनुसार वास्तव नास्तिक वह होगा जिसे अपने जीवन के मूल आधार प्राचीन कर्म (प्रारब्ध) पर आस्था न हो। ऐसा ही व्यक्ति स्वयं बिगड़कर दूसरों को भी बिगाड़ता है।

अस्तु, कथित नास्तिकवादी अपनी मान्यताओं को अति प्राचीन तो कहते हैं किन्तु श्रुति की तरह अनादि कहने का साहस नहीं जुटा पाते। उन्हें मान्यता के प्रवर्तक महापुरुष के काल से ही शुरुआत माननी पड़ती है। **"पुराणमित्येव न साधु सर्वम्"** इत्यादि कालिदासोक्ति के अनुसार अर्वाचीन मान्यताओं में भी जीवनोपयोगी बहुत से तत्त्व होते हैं। वेद से

बाहर सोचने की क्षमता किसी को नहीं होती। अधूरा चिन्तन ही अवैदिक कहा जाता है। अधूरापने से ही वेदविरोध माना जाता है। वेद में स्वीकृत बहुत से तत्त्वों का त्याग अज्ञान से होता है और उस त्याग पर बल मोह से बढ़ता है। तब वैदिक-अवैदिक का विवाद खड़ा होता है। विजयी वेद ही होता है। किन्तु अध्ययन अधूरा होने से बहुत बार वैदिक पक्ष भी दबता पाया जाता है। कथा या तत्त्वविचार का आधारभूत प्रमाण और तर्क अनादि होता है, इससे विद्याओं का अध्ययन और तत्त्वहितपुरुषार्थों का चिन्तन और परीक्षण बार-बार किया जाता है। उसी कुएँ का जल हम भी पीते हैं जिसका हमारे पूर्वज पी चुके हैं।

भारत में चार्वाक जैन और बौद्ध ये तीन प्रकार के नास्तिकवाद अति प्राचीनकाल से चल रहे हैं। वे स्वयं अपने को नास्तिक कहते हैं। इससे हम भी उनके सम्मान के लिये नास्तिक कहते हैं। उनके यहाँ भी जीवन को उन्नत और कल्याणमय बनाने से बहुत से रमणीय सत्यतुल्य ज्ञान और अनुष्ठान होते हैं। उनसे जीवन का धारण और उत्कर्ष होता है इससे वे भी धर्म हैं। विचार के लिये धर्म को हम मौखिक और व्यावहारिक दो रूपों में ले सकते हैं। मौखिक या कथित धर्म कथनमात्र होता है, इससे उसका फल नहीं मिलता और वास्तव धर्म व्यवहार में होने से सफल होता है। ईश्वर का अस्तित्व न मानने वाला व्यक्ति दया से महान् उपकार करता है, ईश्वरीय संकल्प से उसे दया का शुभ फल मिलता है। अपने को धार्मिक घोषित करने वाला व्यक्ति यदि कोई ठोस धर्मकृत्य न कर पाये तो वह ध ार्मफल से वञ्चित ही रहेगा। नास्तिकवादी शीलवान और आस्तिकवादी क्रूर भी बहुतायत से देखे जाते हैं, ऐसी स्थिति में यदि दोनों वर्गों में वैमनस्य उपलब्ध हो तो उसका कारण वादों को कहा जा सकता है किन्तु वास्तव कारण कोई और ही होगा जिसमें दोनों का स्वार्थ टकराता हो। दोनों पक्ष अपनी शालीनता की रक्षा के लिये विवाद का कारण वादों को घोषित करते हैं। ऐसी स्थिति में वे दोनों न तो आस्तिक होते हैं न नास्तिक, वे तो पशुस्तरीय क्षुद्र अर्थनिष्ठ जन्तु होते हैं। धर्म सर्वत्र सफल होता है। कोई नास्तिक या म्लेच्छ भी धृति क्षमा आदि मानव धर्मों को अपने और अपनों में विकसित करके अपने गण के साथ या अकेले जीवन को मंगलमय बना सकता है। अपने गुणों से प्रतिष्ठा पा सकता है। धर्मरूपी अच्छे गुणों के

अभाव में कोई भी जाति पिछड़ी ही रह जाती है। अपने को किसी मजहब का सदस्य कहने मात्र से किसी को न तो मजहब सम्मान देता है, न दूसरे लोग देते हैं न प्रकृति ही कोई अच्छा पद या प्रतिष्ठा दे पाती है। दयास्नेह-श्रद्धामूलक धर्म पशुओं में भी देखा जाता है। मनुष्य में तो वह होता ही है। कोई भी सत्कर्म सद्बुद्धि से होता है। सद्बुद्धि तत्त्वदर्शन की दिशा में होती है। सत्कर्मों से सद्बुद्धि बढ़ती है, तब वास्तव तत्त्वदर्शन होकर परम कल्याण मोक्षपद प्राप्त हो जाता है।

धर्म और शासन-तन्त्र

किसी भी देश या राष्ट्र का शासनतन्त्र वहाँ की राष्ट्रिय नीति का एक प्रहरी होता है। राष्ट्रिय नीतियों का निर्माण राष्ट्रीय धर्म के अनुरूप होता है। जिससे राष्ट्रिय प्रत्येक प्रजा का ऐहिक और आमुष्मिक या सामाजिक आर्थिक नैतिक और मानसिक के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास उत्तरोत्तर बढ़ता जाये, विकासमार्ग में कोई अवरोध न आया करे वह धर्म ही राष्ट्रिय धर्म कहा जाता है। इसे राष्ट्र का समग्र धर्म कह सकते हैं। राष्ट्रिय धर्म की एकारूपता के लिए प्रजा की भावनाओं की विविधता कभी भी बाधक नहीं होती। बच्चों की भावनायें विविध होती हैं किन्तु अभिभावक समान रूप से उनके अभ्युदय एवं विकास की सुविधायें प्रस्तुत करते हैं। अभिभावक का यह कर्तव्य नहीं होता कि यदि अज्ञानवश कोई शिशु अपनी कोई विरोधी मान्यता कायम किये हो तो उसकी मान्यता से संघर्ष करे या बच्चों की विरोधी मान्यताओं को देखते हुए उनके लिए स्वयम् अभ्युदय की कोई बात न सोचे। अभिभावक यह अवश्य सोचता है कि यदि किसी शिशु में कोई असम्भव या विरोधी भावना है तो वह उचित परिवेष में धीरे-धीरे स्वयम् परिवर्तित हो जाये।

धर्म ही प्रजा की रक्षा करता है और धर्म रक्षा ही करता है। धर्म के सिवा प्रजारक्षक दूसरा कोई तत्त्व नहीं होता। भले ही उसका नाम नैतिकता, आचारसंहिता या राष्ट्रियता आदि कुछ भी रख दिया जाये। आज विश्व में बड़े-बड़े शहरों में बड़े-बड़े बमकाण्ड होते हैं। उससे धन प्राण सुख शान्ति की हानि तो होती ही है वह उस अधर्म की ओर से शासनतन्त्र को

जबर्दस्त चुनौती होती है जिसे शासनतन्त्र धर्म के साथ अनदेखा किये रहता है। वह अधर्म कभी-कभी अपना नाम बतलाता है और बमकाण्ड की जिम्मेदारी भी लेता है। शासनतन्त्र उस अधर्म को दण्डित नहीं करता। अधर्म दण्डनीय होता भी नहीं। उसका तो मूलोच्छेद किया जाता है। अधर्म का मूलोच्छेद धर्म से ही हो सकता है। किन्तु जो शासनतन्त्र दुर्भाग्यवश धर्म को प्रकाशरूप न मानकर एक अन्धकार माना करता है वह भला धर्म का सहारा कैसे ले सकता है।

वस्तुतः शासनतन्त्र जिसकी रक्षा के लिए बना होता है वह धर्म ही कहलाता है। अधर्मबहुल प्रजा की रक्षा शासनतन्त्र नहीं कर सकता। क्योंकि वह तो मरणशील होने के साथ-साथ अकाल मृत्यु का भी अधिकारी है। शासनतन्त्र के पदाधिकारी स्वयं भी प्रजा ही होते हैं। वे भी अधर्मबहुल होने पर अपनी रक्षा नहीं कर सकते, किन्तु धर्म की रक्षा वे अनायास कर सकते हैं। धर्म ईश्वरीय नियम होता है। उसकी रक्षा में ईश्वर का बहुत बड़ा हाथ होता है। प्रजा स्वभाव से ही धर्म की ओर झुकती है। उसका विरोध वह कभी नहीं कर सकती।

प्रजा सदा अधर्म का ही विरोध करती है। अधर्म देखकर ही प्राचीन राजामहाराजाओं का साथ प्रजा ने छोड़ दिया। जब प्रजा का अधर्म शासनतन्त्र पर हावी हो जाता है तब शासनतन्त्र का ध्वंस और प्रजा का संहार होता है। भारत में मुस्लिम शासन के आदि अन्त में भी यही हुआ और अंग्रेजी शासन के अन्त में भी यही हुआ। अंग्रेजी सत्ता धर्मशील होती तो गान्धीभक्त उसका विरोध नहीं करते। आज जो शासनसत्ता हर रोज बनती बिगड़ती रहती है वह उसकी धर्महीनता का ही परिणाम है। जो वह चार दिन सक्रिय रहती है वह उसका चार दिनों का धर्म ही है। मैं धर्म नहीं मानता ऐसा कह देने से धर्म उसका साथ नहीं छोड़ देता है और परम धर्मात्मा का वेश बना लेने से धर्म उससे लिपट नहीं जाता। धर्म कोई धोखा खानेवाला व्यक्ति नहीं है। वह तो जगन्नियन्ता परमात्मा की आँख है जो धोखा खाती ही नहीं। किसी भी देश की प्रजा का सदा यही कर्तव्य होता है कि वह ऐसा धर्मशील शासनतन्त्र तैयार करे जो प्रजा के धर्म-अधर्म पर पूरी दृष्टि रखे जिससे रक्षा चिरस्थायी हो।

पुरुषार्थचतुष्टय और शासनतन्त्र

हर मनुष्य सुख चाहता है। दुःखों से छूटना चाहता है। सुखों के साधन के रूप में धन चाहता और चाहता है एक अविकल भाग्य, जिससे उसके सारे मनोरथ पूरे हो सकें। यही है पुरुषार्थ चतुष्टय जो कि धर्म संगत, नीति संगत होने से समस्त प्रजा के चाहने योग्य है। प्रजा के सभी धर्म्य मनोरथ पूरा करना और विघ्नों का निवारण करना शासनतन्त्र की जिम्मेवारी होती है। वस्तुतः प्रजा के लिए शासनतन्त्र एक ऐसा वातावरण तैयार रखता है जिससे प्रजा अपनी योग्यताओं के अनुसार सभी मनोरथ प्राप्त कर सके। चरवाहा पशुओं को घास के मैदान में सुरक्षा के साथ छोड़ देता है। पशु स्वयम् आहार ग्रहण करते हैं। चरवाहा पशुओं को लड़ने से भी रोकता है और बिना घासवाले क्षेत्र की ओर बढ़ने से भी।

ऊपर के चारों पुरुषार्थ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं या कहना चाहिए कि चारों परस्पर सापेक्ष हैं। सामान्य सुख के अभाव में जीवन ही दूभर हो जाता है, अन्य पुरुषार्थ क्या होंगे। यदि दुःखों का क्रम जारी हो तो भी शेष पुरुषार्थ छूटने लगते हैं। थोड़ा भी धन न होने पर दुःख होंगे ही, कोई अच्छा चिन्तन भी नहीं हो पायेगा। यति को भी कम से कम भिक्षापात्र कमण्डलु और कन्था तो चाहिए ही। अच्छे भाग्य यानी धर्म के अभाव में विघ्न बहुत होंगे, या जीवन ही नहीं रहेगा। पुरुषार्थों की क्या बात होगी। ये ही चार पुरुषार्थ शास्त्रीय भाषा में क्रम से काम, मोक्ष, अर्थ और धर्म कहे जाते हैं। इन चारों में धर्म का स्थान पहला है। धर्म के बिना शेष पुरुषार्थ तो नहीं होते धर्म भी नहीं होता है। धर्म के अभाव में जीवन का आरम्भ ही नहीं होता, थोड़ा धर्म होने से आयु कम होती है, उससे अधिक किन्तु अपर्याप्त धर्म होने से जीवन नाना विघ्न अपयश कलह और अशान्ति में बीतता है। ताजा धर्म नवजात शिशु की भाँति दुर्बल होता है। उससे रक्षा कम होती है। पुराना धर्म प्रौढ़ पुरुष की भाँति सक्षम और रक्षक होता है। पुराना धर्म ही भाग्य कहा जाता है।

चूँकि प्रजा के जीवन में धर्म सर्वोपरि महत्त्व रखता है इसलिए शासनतन्त्र को प्रजा के धर्म की ही वृद्धि और रक्षा को प्राथमिकता देनी चाहिए। जो शासनतन्त्र धर्म की उपेक्षा करता हुआ शासन चलाता है वह

उस अन्धे के समान है जो दयावश बतलाये मार्ग को पकड़ना नहीं चाहता और अपने छोटे बच्चे को कन्धे पर लिए चला जा रहा है।

प्रजा शब्द की व्युत्पत्ति

प्रजा शब्द के दो अर्थ होते हैं, सन्तान और राज्य के लोग। एक शब्द के अनेक वाच्यार्थों में बड़े भेद के साथ एक समानता भी होती है। प्र उपसर्ग पूर्वक "जनी प्रादुर्भावे" धातु से कर्ता अर्थ में ड प्रत्यय के बाद स्त्री प्रत्यय टाप् होने से प्रजा शब्द बनता है। यहाँ धातु का अर्थ है प्रादुर्भाव या जन्म, ड प्रत्यय सहित उसका अर्थ हुआ प्रकट होने या जन्म लेने वाला या वाली, स्त्री प्रत्यय का अर्थ यहाँ पर स्नेहपात्र रमणीय अनुकम्पनीय रक्षणीय आदि यथा योग्य होगा। प्र उपसर्ग का अर्थ होगा जन्मगत प्रकर्ष। वह प्रकर्ष यहाँ पर सर्वाधिक आत्मीयता रूप है। इस प्रकार प्रजा शब्द से ऐसा व्यक्ति समझ में आता है जो सबसे अधिक आत्मीय हो बहुत प्रिय हो और जिसकी रक्षा और विकास का पूर्ण दायित्व प्रजावान् पिता या शासक पर हो। सन्तान के वाचक प्रजा शब्द का प्रयोग राज्य के लोगों के लिए इसलिए होता है कि पिता के लिए पुत्र जितना प्रिय और आत्मीय होता है उससे कम राज्य के लोग शासक के लिए नहीं होते। इसी से संस्कृत ग्रन्थों में प्राचीन राजाओं का वर्णन जहाँ-जहाँ आया है वहाँ राजा के लिए कहा गया है कि वह प्रजा को अपनी सन्तान से कम नहीं मानता था। आज के जो शासनतन्त्र प्रजा को धर्म से जोड़ना अपना दायित्व नहीं मानते, अवश्य ही प्रजा के प्रति उनकी आत्मीयता बहुत कम होती है। दायित्व भी दो प्रकार से होता है, धर्म बुद्धि से और पदाधिकार से। एक हेडमास्टर बच्चों से स्नेह न होने पर भी उन्हें हित की बातें सुना सकता है। स्नेह होने से उन्हें हित से जोड़ने के लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा करता है। शासन यदि स्वयं धर्मशील होगा तो प्रजा को धर्म से जोड़ने के उपाय करेगा। अन्यथा वोट पाने के लिए मन्दिर-निर्माण की प्रतिज्ञा करेगा और बोट से पद पाकर केवल बहानेबाजी के झूले पर अटल बिहार करता रहेगा।

धर्मनिरपेक्षता और धार्मिकस्वतन्त्रता

स्वतन्त्र भारत के व्यापक संविधान को धर्मनिरपेक्ष बनाया गया है। इसके निर्माण में डा० भीमराव अम्बेडकर के सर्वाधिक योगदान की बात कही जाती है। डा० अम्बेडकर को देश में अपने जातीय समाज के प्रति धार्मिक उत्पीड़न जैसी स्थिति अनुभव में आयी थी। उन्होंने संविधान को अपने जानते ऐसा बनाया जिसमें धर्म का कोई बखेड़ा खड़ा न हो। यह भी माना जाता है कि उन्होंने आगे चलकर बौद्ध धर्म स्वीकार किया और अपने जैसे वर्गों के लिए उसे ही उपयुक्त बतलाया। पता नहीं कि डा० साहब ने बौद्ध धर्म को कितना समझा और क्या समझा एवं क्यों उपयुक्त माना। शायद उनको जातीय-सांवृतिकता का सिद्धान्त ज्यादा अच्छा लगा हो। उनकी समझ में यह आया होगा कि बौद्धधर्म इसलिए अच्छा है क्योंकि इसमें जातियों को अज्ञानजनित एक कल्पना मात्र माना है। जब जातियाँ हैं ही नहीं तो उनके आधार पर ऊँच-नीच भाव भी नहीं हैं, यह भी अज्ञान का ही एक रूप है। किन्तु बौद्ध धर्म को समग्र रूप से समझने की आवश्यकता थी। हमारे शंकराचार्य और उनके पूर्वाचार्यो ने भी बौद्ध सिद्धान्तों को अपनाया है। बौद्ध चिन्तन कुछ ऐसे हैं कि उन्हें मानना एक बुद्धि-जीवी के लिए अनिवार्य हो जाता है। वहाँ केवल जाति को ही भ्रान्तिकल्पित नहीं माना गया है। वहाँ तो व्यक्ति भी जाति के बराबर ही काल्पनिक है। और उसका अस्वीकार विशेष कल्याणकारी है। व्यक्ति से यानी अपने आप से और सामने वाले से अनास्था हो जाने पर मानसिक और बाहरी संघर्ष की स्थिति ही समाप्त हो जाती है। मन में शून्यता आ जाती है। वहाँ शून्यता को ही चरम तत्त्व माना गया है। वह भी कोई तत्त्व नहीं है बल्कि चिन्तन और साधना की पराकाष्ठा है। अस्तु धर्मनिरपेक्षता के पुजारी ने कम से कम बौद्धधर्म को आत्मकल्याण का साधन मान लिया यह तथा कथित धर्मनिरपेक्षता का जन्म के साथ ही प्रबल पराभव है, यह समझना चाहिए। वस्तुतः धर्मनिरपेक्षता संविधान-निर्माण के समय कुछ क्षणों के लिए माना हुआ एक विन्दु है जो आगे चलकर बदल जाता किन्तु भारतीय जनता के वर्तमान मन्द भाग्य के अनुसार वह अभी आगे का चिन्तन न होने से बना हुआ है। कोई भी निर्माण एक ही बार पूरा नहीं

हो जाता। अंशों के क्रम से ही बनता है। किसी अंश के पूरा होने तक अगला महत्त्वपूर्ण भी अंश अनपेक्षित रहता ही है। कभी-कभी आधा ही निर्माण पूरा मान लिया जाता है और महत्त्वपूर्ण अंश चिरकाल छूटा ही रहता है। यही स्थिति हमारे तथाकथित गौरवास्पद संविधानकी भी है। जिस संविधान में धर्म का चिन्तन ही नहीं हुआ वह तो उस इमारत के समान है जिसकी केवल दीवार खड़ी है, शेष काम वाकी है। संविधान समग्र और व्यापक तब माना जाता जब उसे भारत के चिर सम्मानित अतिथि मुसलमान जो कि प्रति दिन पाँच बार परमात्मा के लिए सिर झुकाते हैं और वे ईसाई जिनके सभी भावी पापों के लिए पहले ही ईसामसीह ने स्वयं शूली पर चढ़कर प्रायश्चित्त कर दिया है, समर्थन देते एवं जैन बौद्ध सिक्खों के प्रतिनिधि भी उसे समझकर आत्मकल्याण का माध्यम मानते। किन्तु डा० अम्बेडकर महोदय ने तो संविधान की दुनिया में धर्म को अछूत बना कर दूर भगा दिया। इससे ईसाई मुसलमानों को एक लाभ समझ में आया होगा कि इससे हमें अपने मजहब का विस्तार करने में सुविधा होगी। अवश्य ही दीक्षा से और प्रजनन से दोनों मजहबों का काफी विस्तार देश-विदेशों में हो रहा है किन्तु मजहब का सही विस्तार प्रजनन से नहीं होता, दीक्षा से ही होता है। दीक्षा भी तब प्रभावी होती है जब वह साम्राज्य विस्तार जैसे किसी दूसरे उद्देश्य का अंग न हो। अवश्य ही आज धर्म समस्त विश्व में अर्थ का एक जर्जर उपेक्षणीय आवरणमात्र रह गया है। इसी से सर्वत्र अर्थ के समकक्ष अनर्थ दिखाई पड़ रहे हैं।

दीक्षा के प्रसंग में धार्मिक स्वतन्त्रता की बात आती है। इस शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। पहला अर्थ है कि जिस देश, काल, अवस्था, वय, लिंग और कामना के अनुसार जिस व्यक्ति के लिए अनुपालनीय जो धर्म होता हो उसका समुचित अनुपालन करने में शासन की ओर से कोई अवरोध नहीं होगा अर्थात् शासन किसी के धर्मानुष्ठान में कोई भी हस्तक्षेप नहीं करेगा। दूसरा अर्थ यह होगा कि जिस किसी व्यक्ति का जो भी परम्परागत धर्म हो उसे वह केवल स्वेच्छा से पूरा या आधा छोड़ कर धर्मान्तर का पूरा या आधा भाग अपना सकता है। इससे यह भी हो सकता है कि कोई ब्राह्मण, यदि विरोध न हो तो संस्कृत न जानने के कारण

सन्ध्या-वन्दन न करके मुसलमानों के पास बैठकर मूक नमाज भी अदा कर सकता है और जब कभी संस्कृत पण्डित मिल जायें तो उनकी देखा-देखी सन्ध्यावन्दन भी कर सकता है। इसमें शासन कोई भी हस्तक्षेप नहीं करेगा। इसी प्रकार मनचले लोग धर्मानुष्ठान में अन्य भी अनेक नियम अपना और छोड़ सकते हैं। उसपर भी शासन कोई विचार नहीं करेगा। संविधान में चाहे जो भी अर्थ मान्य हो किन्तु धर्मनिरपेक्षता की यह मतिहीन कन्या धार्मिक स्वतन्त्रता मानो यह कह रही है कि जिस धर्म क्षेत्र में हमारी तनिक भी ममता नहीं है वहाँ चाहे कोई खेती करे या जानवर चराये, उसमें एक बड़ा सा गड्ढा खोद डाले या कूड़े की ढेर लगा दे, मुझे कुछ नहीं बोलना है।

धर्म वस्तुतः कोई संकीर्ण या उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। वह स्वेच्छा से अपनाने या छोड़ने की भी वस्तु नहीं है। वह अपने आप में परिवर्तनीय भी नहीं हैं। भावना में परिवर्तन होने से उसके अनुष्ठान की प्रक्रिया में परिवर्तन अवश्य होता है। वह सारे विश्व का रक्षात्मक तत्त्व एक ही है जो कभी भी किसी की आँखों के सामने नहीं आता। केवल उसका अनुष्ठानात्मक और फलात्मक दृश्य ही सामने होता है। अनुष्ठानप्रक्रिया को लेकर विवाद होते हैं। विवाद में प्रमाण कम काम करते हैं। वासना की जीत होती है। मुसलमान के घर हिन्दू भावना लेकर जन्मा बालक कभी भी इस्लाम को महत्त्व नहीं देता। भावना के अनुसार वह हिन्दूसिद्धान्त का ही पक्षपोषण करता है। इसके विपरीत लाखों हिन्दू स्वेच्छा से मुसलमान होकर कई पीढ़ियों से नमाज अदा कर रहे हैं। इस्लाम विरोधी भावना के फलस्वरूप असंख्य हिन्दुओं ने स्वधर्मत्याग की स्थिति में अपने प्राण ही त्याग दिये। हिन्दूभावना वाले उक्त बालक में भी धर्म है। मुसलमान बने लोगों में भी धर्म है, जिन्होंने स्वधर्म के लिए प्राण त्यागे उनमें तो धर्म था ही। अवश्य ही अनुष्ठानानुगत भावना के बलाबल और शुद्धि-अशुद्धि से उसके मूलभूत धर्म में तारतम्य रहा करता है। यद्यपि एक ईश्वरीय आदेश के रूप में विश्वव्यापी रक्षात्मक नित्य धर्म एक ही है किन्तु अनुष्ठानों के फल रूप में प्राप्त होने वाला प्रतिव्यक्ति का धर्म जो कि उस नित्य धर्म का प्रभाव है। सदा परिवर्तनीय और शुद्ध-अशुद्ध एवं सबल-दुर्बल हुआ करता है।

धर्मनिरपेक्षतावादी धर्म के सम्बन्ध में इतनी सी जानकारी न रखते हों

ऐसा नहीं है किन्तु संसर्ग से घटने बढ़ने वाले सत्त्वादिगुणों की कुछ ऐसी विशेषता होती है कि कभी-कभी उत्तम वस्तुओं में अश्रद्धा और निन्दित वस्तुओं में अतिशय स्नेह हो जाता है। समूह में भी ऐसा दोष देखने में आता है। घर का मालिक जब बूढ़ा हो जाता है, रक्षक न रह कर रक्षणीय हो जाता है तब उसकी आवाज बड़ी भद्दी लगती है, वह परिवार का अशुभचिन्तक समझा जाता है उसे देखकर यात्रा करने से निश्चित ही काम बिगड़ जाता है, उसे किसी कोने में सुला कर हिदायत दी जाती है कि ज्यादा शोर न मचाये, जो मिले वह खा पी कर चुप रहा करे। उस समय सारा परिवार अपने को उस वृद्ध का शत्रु तो नहीं किन्तु निरपेक्ष घोषित करता है और निरपेक्षता यानी पूर्ण उपेक्षा बरतता है। साथ ही अंग्रेजी पिल्ले को नहलाने धुलाने के लिए नौकर और उसके आरोग्य के लिए डाक्टर नियुक्त करता है। जिस परिवार में ऐसी असमञ्जस प्रवृत्ति देखी जाती है उसका निकट भविष्य संकटमय होता है। आज भारतीय जनता में भी कुछ ऐसे ही लक्षण लक्षित हो रहे हैं।

विगड़ती बात को संवारने के लिए धर्मनिरपेक्षता शब्द को दो रमणीय अर्थों से जोड़ने का विफल प्रयास हुआ है। एक मत कहता है कि यहाँ धर्म माने सम्प्रदाय है। भला, धर्म की उपेक्षा हम कैसे कर सकते हैं। हम सम्प्रदाय की उपेक्षा करते हैं। दूसरा मत कहता है कि यहाँ धर्म शब्द से, सर्वधर्म लिया गया है और निरपेक्षता माने समभाव। इस तरह हमारा सर्वधर्मसमभाव में तात्पर्य है। उक्त दोनों मत पहले से अधिक निःसार हैं। सम्प्रदाय शब्द का अर्थ होता है धर्म का वह रूप जो देर से, सेवाओं के बाद, उत्तम अधिकारी के द्वारा, किसी उत्तम अधिकारी को ही, गोपनीय रूप से बतलाया जाता है एवं जिसका प्रचार सार्वजनिक रूप में नहीं किया जाता। संक्षेप में हम उसे श्रद्धास्पद गुप्त मत कह सकते हैं। सम्प्रदायों से कुछ अनुष्ठान होते हैं। वे समाज की भावना के मर्म स्थान कहे जा सकते हैं। दो परस्पर विरोधी सम्प्रदाय वर्गसंघर्ष के बीज होते हैं। जिस राष्ट्र में अनेक सम्प्रदाय हों वहाँ का शासनतन्त्र यदि सम्प्रदायों के प्रति उदासीन हो तो संघर्ष कैसे रुकेगा। शासन को तो सामान्य रूप से सभी सम्प्रदायों की श्रद्धावान् की भाँति जानकारी होनी चाहिए। साथ ही सम्प्रदायों में, न कि

सम्प्रदाय वालों में सामञ्जस्य स्थापित करने का ऐसा प्रयास करना चाहिए जो सभी वर्गों को अच्छा लगे और सभी वर्ग शासन को अपना समर्थक समझें। शासन का आदर्श तो यही होना चाहिए। जनसमूह की श्रद्धा का स्थान सम्प्रदाय, शासनतन्त्र की उपेक्षा का विषय कभी नहीं होना चाहिए। धर्म का माने सम्प्रदाय होता भी नहीं है। ऐसा मानना अर्थ का अनर्थ करना है। सम्प्रदाय धर्म के मर्म होते हैं, उनकी उपेक्षा धर्म की ही उपेक्षा है।

दूसरा मत भी विचार पूर्ण नहीं है। सर्व शब्द जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। जोड़ने से अपेक्षित लाभ नहीं होगा। अनपेक्षित अर्थ आयेगा। निरपेक्षता शब्द उपेक्षा या अनादर का पर्याय है। उसका अर्थ समभाव नहीं होगा। यदि समभाव में ही तात्पर्य मानने का आग्रह हो तो भी समझदारी नहीं होगी। अनुभव श्रद्धा कामना और अधिकार के भेद से धर्म के ऊँचे-नीचे हजारों स्तर हैं। सबके प्रति समभाव या तो अज्ञान से होगा या कोई प्रयोजन न होने से या सर्वथा दुर्लभ होने से। तीन में से एक भी बात शासन में घटित नहीं होती। धर्म का एक ऐसा स्वरूप है जो भूमण्डल के प्रत्येक मनुष्य को शीघ्र प्राप्त हो जाना चाहिए या उसे प्राप्त करने के लिए ऐसा सतत प्रयत्न होना चाहिए जो लौकिक वस्तुओं के आकर्षण में भूल न जाये। धर्म का वह स्वरूप शासनतन्त्र के ध्यान में सर्वोपरि रहना चाहिए। यदि ऐसा नहीं हो तो वह तन्त्र एक षड्यन्त्र से अधिक कुछ नहीं।

कुछ मनीषी एक और सुन्दर अर्थ मानते हैं। उनका कहना है कि यहाँ धर्म से हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई मतों और मान्यताओं में तात्पर्य है। निरपेक्षता माने समभाव इसलिए माना गया है कि भारतीय संविधान में उक्त मतभेदों को आधार नहीं माना गया है। कुछ मत यदि बहुत अच्छे भी हैं तो उनकी अच्छाई से संविधान के किसी रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना है। संविधान तो देश के प्रत्येक नागरिक को आर्थिक सामाजिक राजनैतिक प्रगति और न्याय समान रूप से उपलब्ध कराने के लिए बना है। इस कार्य में किसी भी धर्म की कोई अपेक्षा नहीं है।

उक्त अर्थ ज्यादा गलत नहीं है किन्तु शासन तो आरक्षण नियम बना कर एवं न्याय दिलाने में मजहबी कानूनों को बहुत बार बाद में शिरोधार्य करके स्वयम् उक्त अर्थ का उल्लंघन कर रहा है। और यदि यही तात्पर्य

था तो धर्मनिरपेक्षता जैसे किसी भी शब्द को जोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। जो सुविधाएँ केवल नागरिकता के नाते मिलनी हैं उनके लिए धर्म के विचार का कोई प्रसंग नहीं बनता। किसी टिकट खिड़की पर, सर्वजनोपयोगी वस्तुओं की किसी दूकान पर या किसी सार्वजनिक मार्ग पर धर्मनिरपेक्षता का बोर्ड लगाने की आवश्यकता नहीं समझी गयी है। यहाँ यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि अक्टूबर सन् १९९० में अयोध्या में वाहनों में अवरोध और सघन नाकाबन्दी के बाद भी राम-भक्तों की अपार भीड़ देखकर तत्कालीन मुख्यमन्त्री मुलायमसिंह यादव ने किसी खतरे की आशंका से उन रामभक्तों पर उस समय गोलियाँ चलवायीं जब वे निहत्थे थे और किसी अपराध की स्थिति में नहीं थे। अखबारों में छपी खबरों के अनुसार मुलायमसिंह ने उस बड़े नरसंहार का कारण बतलाया था धर्मनिरपेक्षता की रक्षा। सम्भव है कि उन्हें बाबरी ढांचे के गिरने की आशंका हो गयी और उसके बचाव के लिए निरपराधों की हत्या करके भगदड़ मचा देना ही एक मात्र उपाय उन्होंने समझा हो। आगे की भाजपा सरकार उस जीर्ण ढांचे की रक्षा नहीं कर पायी। इससे केन्द्र के नरसिंहराव सरकार ने उस भाजपा सरकार को बरखास्त कर दिया। उक्त प्रधानमन्त्री और मुख्यमन्त्री के व्यवहारों और वचनों से उनके मन में बसा हुआ धर्मनिरपेक्षता का रूप समझ में आ सकता है किन्तु उस रूप का कथन तो वे या उनके सधर्मा लोग ही कर सकते हैं। हो सकता है कि उनके विचार से वह रूप अनिर्वचनीय हो !

राजनीतिविशारद राष्ट्रप्रेमी सज्जनों को विचार करना चाहिए कि यदि स्वतन्त्रता के गत पचास वर्षों में देश के छात्रों को, चार वर्णों में विभाजित मानव समाज के मानवता प्रयुक्त कर्तव्यों को जिनमें राष्ट्रियता सर्वोपरि है, और वर्णप्रयुक्त महत्त्वपूर्ण कर्तव्यों को, जिनमें रक्षात्मक महान् धर्म समाहित है, सरल विशद रूप में हृदयंगम कराया गया होता, देश और समाज की रक्षा से ही अपनी रक्षा है, वह रक्षा एक मात्र सत्य के ज्ञान और अनुपालन पर निर्भर है ऐसा समझाया गया होता, मिडिल स्तर के शिक्षकों को योग्यता के बिना भी छात्रों को पास करने का आदेश नहीं दिया गया होता, नकल पर कड़ी नजर रखी गयी होती, नियुक्तियों पर रिश्वत की प्रथा को

ईमानदारी से रोका गया होता तो क्या आज समाज की स्थिति अच्छी नहीं होती ? क्या उग्रवाद आतंकवाद का प्रभाव कम नहीं रहता ? क्या दुर्गुणों का प्रवेश मानव में विद्यालय के द्वार से ही नहीं हुआ है ? क्या नियुक्तियों पर रिश्वत की प्रथा कर्त्तव्यों के लिए पूरी उपेक्षा की दीक्षा नहीं है ? क्या यह शोभा की बात है कि सरकार रिश्वतों की बात से बराबर बेखबर रहती है ? क्या सरकार स्वयं रिश्वतों पर नहीं टिकी होती ? क्या मतपत्रों में अधिकाधिक धांधली करके लोग ऊँचे पदों पर नहीं बैठते ? क्या यह मानने लायक है कि बेईमानी के सहारे पद पा कर कोई ईमानदारी पर उतर जाता है ? क्या समस्त धर्मों के प्रति घोषित उपेक्षा भाव सम्पूर्ण बेईमानी का खुला द्वार नहीं है ? अभी हवाला काण्ड का भण्डाफोड़ हुआ है। ऐसे ही बड़े पुराने काण्ड फाईलों में चिर समाधि का सुख लूट रहे हैं। अभी तो न्यायालय यही निर्णय नहीं कर पाया है कि अयोध्या रामजन्म-भूमि स्थल पर कोई मन्दिर था या नहीं। आगे उसे यह भी निर्णय करना पड़ सकता है कि विश्व के नक्शे में भारतवर्ष नामका कोई राष्ट्र है या नहीं। ऐसे न्यायालय से अच्छा विश्व के मनोरंजन का साधन और क्या हो सकता है ? एक अस्पष्ट वृत्तान्त याद आ रहा है। सन् १९४६ में जब कि अंग्रेज भारत को सम्पूर्ण शासन सत्ता देना उचित नहीं समझ रहे थे, किसी से बोले थे कि इन्हें पूरी सत्ता दी भी जाये तो कैसे, ये स्वयं सम्पूर्ण शासन चलाने के लायक भी तो नहीं हैं। यदि ऐसी उक्ति हुई थी तो क्या उसके पीछे कुछ तथ्य होने की बात गत ५७ वर्षों का घटनाक्रम देखने से समझ में आती है ? और यदि तथ्य रहा हो तो वह समाप्त हो चुका है या बढ़ता जा रहा है ? आइये, नित्य कल्याणमय धर्म के आत्मा परमात्मा की ओर चलें, वे हमें धर्मसंगत नीतियाँ देंगे, तब उनसे हम उन्हें भी पा सकते हैं।

कुरुकुल नष्ट किया, कर डाला यादव कुल का भी संहार,
अन्य न जिसका अपना होता केवल जिसे धर्म से प्यार।
जगत बनाकर चाहा जिसने अपने भक्तों का उद्धार,
उस करुणाकर परमेश्वर को करलें हार्दिक नमस्कार।।

दुरितकृततमिस्रामुष्टनेत्रा न धर्मं विशदमपि सदुक्तं गृह्यते दृष्टमेतत्।
सुकृतवलितभावास्तत्त्वनिष्ठागरिष्ठा हितवचनचयोञ्छास्तोषमेष्यन्त्यनेन।।

(पूर्वपापों से एकत्र तमोगुणरूपी अन्धकार ने जिनके ज्ञाननेत्र हर लिये

हैं वे विधिवत् विस्तार से भी बतलाये गये धर्म को स्वीकार नहीं करते, यह देखा गया है किन्तु जिनके पूर्वपुण्यों ने उनके मनोभावों को अच्छाई की ओर मोड़ दिया है, जो वास्तविकता के प्रति आस्था के कारण समाज में सम्मानित हैं, जो कल्याणमय वचनसमूह का श्रद्धा से चयन करते रहते हैं वे इस निबन्ध से सन्तुष्ट होंगे।)

अनुबन्ध-१

धर्मनिरपेक्षता

स्वतन्त्र भारत के आदि राष्ट्रनायकों ने तत्कालीन विषम राजनीतिक दलदल में समुद्र-मन्थन करके एक अद्भुत रत्न ढूंढ़ निकाला धर्मनिरपेक्षता, यानी धर्म की ओर से पूरा बेखबर रहना। धर्मनिरपेक्षता जब विकसित होती है तो धर्मद्रोह का रूप ले लेती है। इस रत्न से, बड़ी ममता है हमारे राष्ट्रनायकों को। सैकड़ों वर्षों के संघर्ष में हमारे पूर्वजों ने सदा यही देखा कि विदेशी सत्ता हमारे स्वरूप को, हमारी आत्मा को और हमारे स्वत्व को, संक्षेप में कहें तो हमारे धर्म को लगातार नष्ट करती जा रही है। इसके रहते हम सुरक्षित नहीं हैं। इसके हटने पर ही हमारी सुरक्षा हो सकती है। इसी कल्पना में उन्होंने अपने तन मन धन प्राण न्यौछावर कर दिये। इतना ही नहीं भारतमाता की छबि सुधारने के लिए उन्होंने अपना नामो निशान भी मिटा दिया। लम्बे स्वतन्त्रतासंघर्ष की धारा में एक बुरा मुहूर्त आया जो भला सा दीख रहा था। उस समय विदेशी सत्ता चली गयी और हमने स्वतन्त्रता की सांस ली, किन्तु हमारा दुर्भाग्य यह था कि उस समय जो लोग स्वाधीनतासंग्रामशृंखला की अन्तिम कड़ियों में होने से सत्ता के अधिकारी हुए उनके हृदय में भारतीय आत्मा की रक्षा करना उद्देश्य नहीं था। वह केवल भारतसम्राट् बनने का सुखद स्वप्न देख रहे थे। वे धर्मनिरपेक्ष थे, बलिदानियों की भावना उनकी दृष्टि से परे थी। जब उन्होंने

कुर्सी सम्हाली तो बाहरी दुनिया से ज्यादा सम्पर्क साधा। यों तो वे हृदय से बाहरी ही थे किन्तु सम्पर्क बढ़ने पर उनका बाहरीपन बढ़ गया।

कहा जाता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज से अपनी समरसता बनाये रखना चाहता है। सामाजिकता मनुष्य जाति का स्वभाव है। किन्तु यह स्वभाव एकान्त गुण नहीं है। अपने आपको भूल जाने पर यह स्वभाव दोष भी बन जाता है। उन्होंने जब सनातन तपःस्थली स्वाधीनहिमगिरिशृंग पर खड़े होकर देखा कि हम से अधिक उन्नत अधिकांश देश गाय खाते हैं। कुछ तो अपने कुलवृद्धों को भी खा लेते हैं। सभी शराब पीते हैं। कहीं भी यम-नियम पर आस्था नहीं है। कहीं भी वर्णाश्रम-व्यवस्था नहीं है। कहीं-कहीं धर्म जैसा कुछ दिखाई पड़ता है किन्तु सभ्यता की ओर दौड़ता हुआ समाज उधर झांकता नहीं है बल्कि उसके प्रति द्रोह भाव भी रखता है। फिर भी इन राष्ट्रों का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। उन संस्कारहीन दूरदर्शियों ने गौर किया कि ये लोग पहले से स्वतन्त्र हैं और हम लोग अभी-अभी परतन्त्रता की बेड़ी से छूटे हैं। इसी से ये लोग धर्म-कर्म, ऊँच-नीच, लोक-परलोक, जात-पांत, चूल्हा-चौका, खान-पान, छूआ-छूत जैसी जंग भरी बेड़ियों को फटकार चुके हैं जब कि हमलोग अभी इन्हीं में बुरी तरह जकड़े हैं। हमें भी इनके समान बनकर सर्वसाधारण मानवता के धरातल पर चलना होगा। तभी इन विदेशियों से हमारे सम्बन्ध अच्छे बनेंगे। अन्यथा हम राष्ट्रसमूह में किनारे पड़ जायेंगे। ऐसा समझते ही उन्होंने अपने स्वतन्त्र देश की उन्नति और विकास के मार्ग में सहायक के रूप में धर्मनिरपेक्षता का ही वरण किया।

जब किसी व्यक्ति के ध्यान में निजी कोई विचार या कुलगत जातिगत समाजगत या राष्ट्रिय कोई आदर्श या धर्म न हो तो वह सामने वाले समाज में घुल-मिल जाने के लिए व्याकुल हो जाता है। धुले बिना अपने को वह असहाय मानता है। इसी नियम से अनेक कुलकन्यायें वारविलासिनी हो गयीं और अनेक वन्य-मानव-जातियाँ सभ्य हो गयीं। यही है मानवीय सामाजिकता का बुरा और भला परिणाम। स्वतन्त्रता संग्राम के सफल सेनानी हमारे राष्ट्रनेता विदेशियों से लड़ते-लड़ते विदेशी बन चुके थे। स्वदेश की भावना न होने से विदेश की नकल उनके लिए सहज थी। नकल

में अकल से काम नहीं लिया जाता। उस समय उन्हें यह सोचने की आवश्यकता नहीं थी कि दूसरे राष्ट्र की प्रजा किस धर्म का विरोध कर रही है। विरोध का कारण क्या है। पहले विरोध क्यों नहीं था। हमारा भारतीय धर्म क्या है। हमारी नयी शासन सत्ता में इससे कोई अनुकूलतम सहयोग बन सकता है या नहीं इत्यादि। वे विदेशी तथा धर्महीन शिक्षा में पले थे। उनमें धर्म का कोई संस्कार नहीं था। इससे उनके लिए सहज थी धर्म सम्बन्धी भ्रान्त धारणा। उन्हें अपने विकास के मार्ग में अवरोधक अपना परम्परागत भारतीय धर्म ही दिखाई पड़ा। उनकी दूसरी पीढ़ी अब धर्मनिरपेक्षता को सम्प्रदायनिरपेक्षता कहने लगी है। यद्यपि इन्होंने आजतक धर्म की या सम्प्रदाय की कोई परिभाषा नहीं की है फिर भी इनके व्यवहारों से यही समझ में आता है कि इनके मनमें धर्म या सम्प्रदाय का वही माने है जो परराष्ट्रों को खलता हो, या जो भावना ईसाईयत ओर इस्लाम के विपरीत हो। वे उन लोगों से ही मैत्री बनाये रखने में अपना हित समझते हैं जो उनके घर में बराबर सेन्ध लगाते जा रहे हैं। यह कैसी विडम्बना है कि हमारे राष्ट्रनेता परराष्ट्रों द्वारा होने वाली सांस्कृतिक तस्करी और घात के लिए सदा द्वार खोले बैठे हैं। शायद वे यही समझते हैं कि हमें देर तक जीवित रहने के लिए दूसरों के हाथों तिल-तिल कर नष्ट हो जाना ही आवश्यक है।

अपनी तथाकथित धर्मनिरपेक्षता को पूरे राष्ट्र में बद्ध मूल बनाने के लिए उन्होंने कपट युक्तियों से काम लेना शुरू किया। शिक्षातन्त्र में शिथिलता बढ़ायी। पाठशालाओं को हिदायत दी कि सातवीं कक्षा तक कोई छात्र फेल न किया जाये। इससे सातवीं कक्षा तक की शिक्षा व्यर्थ मानी गयी। केवल उम्र देखकर बच्चों को कक्षा एक से सात तक बैठाया जाने लगा। कक्षा आठ की वोर्ड की परीक्षा पास कराने की जिम्मेदारी सहज ही उनकी हुई जिन्हेंने बच्चों को हाथ पकड़ कर कक्षा सात तक घसीटा। फिर भी अड़चने आती रहीं। कुछ बच्चे फेल होते रहे। तब नियम बना कि हाईस्कूल के प्राचार्य अपने विद्यालय में स्वयं कक्षा नौ तक परीक्षा लिया करें। इस प्रकार कक्षा नौ तक बिना पढ़े पास होने का भाग्योदय अनेक प्रदेशों के बच्चों का हो गया। फिर बोर्ड की हाईस्कूल परीक्षा पास करने

की दिक्कत महसूस हुई तब तक कक्षा नौ तक के निठल्ले सभी परीक्षा केन्द्रों के निर्वाहकों के पुत्र पौत्रों के रूप में अवतार ले चुके थे। उन्होंने राम सेना की भाँति सभी परीक्षा-राक्षसों को मार भगाया। वह सिलसिला अब भी जारी है। अब तो नकली स्नातकों से अध्यापक बनी पीढ़ी रिटायर हो चुकी है। दूसरी पीढ़ी पदारूढ़ हो रही है। अब तो कौन पढ़ायेगा और पढ़ेगा कौन ? एक बार भाजपा की यू० पी० सरकार ने नकल अध्यादेश बनाया तब अगले चुनाव में इन अवतारों के महनीय पूर्वजों ने पार्टी को ही गिरा दिया। विजयी मुलायमियत ने शीघ्र ही नकल अध्यादेश समाप्त करके अनपढ़ पार्टी का प्रचुर स्नेह अर्जित किया। देश के धर्मनिरपेक्ष परीक्षातन्त्र ने पूरे देश में परीक्षापयोधि पार करने के लिए पारपत्र कुंजियाँ तैयार करके वितरित कीं। छात्रों का, जो कि देश की आगे की पीढ़ी के कर्णधार थे, अक्कल से नाता तोड़वा दिया। अध्यापकों को दूसरे कर्मचारियों की अपेक्षा कम महत्त्व दिया। संस्कृत को त्रिभाषा से बाहर कर दिया। संस्कृतशिक्षा में धन देना कम या बन्द कर दिया। अब देश में संस्कृत के सही विद्वान् ढूंढ़े नहीं मिलेंगे। विभिन्न शास्त्रों के बहुत से प्रौढ़ ग्रन्थों को समझने की क्षमता लगभग देश से विदा हो गयी। संस्कृतमहाविद्यालय और विश्वविद्यालय शून्य तक पहुँच चुके हैं। इसके बाद भी राष्ट्र के कुछ महा प्रहरी कहा करते हैं कि पण्डितों के पोथीपत्रा फाड़ कर फेंक दो।

बड़ी विषम परिस्थिति है। जनसाधारण को शिक्षा से, ज्ञान-विज्ञान से अरुचि है, और राष्ट्ररक्षियों को धर्म से। रक्षात्मक भावनाओं को ही धर्म कहा जाता है। धर्म नहीं तो रक्षा नहीं। इसी से लोग मन्त्रीपद सम्हालते समय राष्ट्ररक्षा का संकल्प लेते हैं और धर्मनिरपेक्षता के सहारे हवालाकाण्ड जैसे अनेक काण्डों में लिप्त होने लगते हैं। वे जानते हैं कि धर्मनिरपेक्षता हमारी रक्षा करेगी। न्याय हमारी प्रतिष्ठा के विरुद्ध आवाज नहीं उठायेगा। इसीसे वे समझते हैं कि पोथी पत्रा फाड़ कर फेंकने से गुण नष्ट होंगे और समानता आ जायेगी जो बड़ी ही शुभ होगी। वे नहीं देखते कि शासन के विरुद्ध आतंकवाद उत्तरोत्तर फैलता जा रहा है जिसमें उत्पीड़ित और उत्पीड़क की बढ़ती संख्या राष्ट्रिय सत्ता को ही निगलने को प्रस्तुत है। इस विभीषिका पर अंकुश एक मात्र धार्मिक भाव ही ला सकते थे जो बहुत पीछे छोड़ दिये गये हैं। धर्म का ज्ञान और अनुपालन संस्कृत शिक्षा के ही

अधीन है। संस्कृत शिक्षा केवल सत्यनारायण कथा नहीं है बल्कि विश्व की समस्त शिक्षाओं की स्नेहमयी माता है।

ऐसी स्थिति में यदि राष्ट्र में कहीं राष्ट्रहितैषी जन सांस ले रहे हों तो उन्हें संगठित होकर समस्त राष्ट्र में संस्कृत की प्रौढ़ शिक्षा यानी सम्पूर्ण शास्त्रीय शिक्षा, न कि पल्लवग्राही शिक्षा के वृक्ष लगाने चाहिए। इस धर्मकार्य में सहायक विद्वान् और धनी भी कम ही मिलेंगे। उपलब्धि के लिए स्वतन्त्र मनन चिन्तन का सहारा लेना होगा।

हिमगिरि सागर नदी तटों में, भूखण्डों में बद्धमूल
उत्तम ओषधियाँ उपजायीं, जिन से होते नष्ट शूल।
सहृदय वैद्य पारखी वनचर, कहीं कहीं मिल जाते हैं
जिसकी करुणा से, उस प्रभु को, सादर शीश नवाते हैं।।

अनुबन्ध-२

धर्मनिरपेक्षता-एक घातक भाषा

अंग्रेजी सेक्यूलर के पर्याय के रूप में इस शब्द को प्रतिष्ठित करते समय पर्यायता तो नहीं ही समझी गयी, इस शब्द का देश पर पड़ने वाले बुरे प्रभावों को भी दुर्भाग्यवश अच्छा मान लिया गया। किसी भी शब्द का प्रभाव बहुत दूर तक होता है। शब्द का प्रयोग हो चुकने के बाद समाज वक्ता से तात्पर्य पूछने नहीं जाता, न ही किसी विद्वान् की उस पर व्याख्या का आदर सभी लोग कर पाते हैं। शब्द जितने भी उचित अनुचित अर्थ दे सकता है, अपनी-अपनी भावना के अनुरूप वही सभी अर्थ समाज लेता रहता है। कभी-कभी किसी शब्द का प्रतिकूल अर्थ ही ज्यादा लिया जाता है। मनुष्य अपनी क्षुद्र भावनाओं को चरितार्थ करने के लिए माध्यमों की तलाश में रहता है। उस समय उसे अन्यार्थक कोई शब्द अपने काम का मिल जाता है।

मनुष्य धर्म के प्रति आदर भाव तो रखता ही है, धर्म विरोधी होने पर भी, बिना बाहरी दबाव के भी कभी-कभी धर्मानुष्ठानरत देखा जाता है किन्तु नैसर्गिक वासनातिरेकवश अधर्म की धारा में ही बहना चाहता है। बहाव से होने वाली हानि को समझता हुआ भी वह वासना के वशीभूत हो वही करता है जो स्वयम् उसे अच्छा नहीं लगता। ऐसी स्थिति में उसे दो तरह के लोग मिलते हैं, बहाने वाले और उबारने वाले। बहानेवालों से वह साथी के नाते स्नेह करता है और उबारने वाले सक्षम व्यक्ति के प्रति कृतज्ञ होता है, श्रद्धा रखता है और अनुगामी होता है। साथ ही अपने बहाव के साथियों को भी उद्धारक का अनुगामी बनाने का प्रयास करता है। ऐसी स्थिति में उद्धार में सक्षम व्यक्ति यदि क्षुद्रस्वार्थवश बहाने में लगा हो तो वह-स्वयं नष्टः परान् नाशयति। अपने उत्तम उद्धारक रूप के नाश से स्वयं बर्बाद हो रहा है और सामने वाले का नाश करके स्वयम् अपराधी भी बन रहा है, ऐसा माना जायेगा। किसी राष्ट्र में उसके शासनतन्त्र से बड़ी शक्ति और क्या होगी। प्रजा के उद्धार में ही उसकी शोभा है। कुर्सी की लालच में प्रजा की दुर्वासनाओं को सहलाना और उभाड़ना उसका लाञ्छन तो है ही उसके नाश का कारण भी है।

धर्मनिरपेक्षता शब्द से शासन ने कोई अच्छा अर्थ तो दिया नहीं। अवश्य ही प्रजा ने इससे शासन शिव के वरदान के रूप में बहुत से धातक अर्थ हथिया लिये। इस कल्पित कल्पवृक्ष से प्रजा की वासनाओं ने निम्नलिखित मनोरम फल प्राप्त किये हैं। १-अब देश आजाद हो गया है। अब जातीयता और प्रान्तीयता के भाव नहीं रहने दिये जायेंगे। नेहरू जी कह रहे हैं। अर्थात् खानपान, प्रेम सम्बन्ध शिष्टाचार आदि में कोई जातीय या प्रान्तीय मर्यादा आधार नहीं होगी। सभी ब्राह्मण शराब पी सकते हैं। मुर्गा सूवर या गाय भी खा सकते हैं। किसी जनजातीय कन्या से विवाह कर सकते हैं। उसे तलाक देकर किसी दूसरी औरत से प्रेम कर सकते हैं। अपने पिता आदि गुरुजनों का अभिवादन करने के लिए बाध्य नहीं होंगे। प्रेमिका के पिता के पैर श्रद्धा से छू सकते हैं। पिछड़ी जनजाति का कोई युवक किसी ब्राह्मण कन्या से प्रेम विवाह कर सकता है। ऐसे विवाह में सरकार पुरस्कार देगी। बुरी सन्तान उत्पन्न करने के लिए पुरस्कार।

२-सार्वजनिक देवालयों में भेदभाव नहीं चलेगा। वहाँ पिछड़ी जनजातियाँ घुस कर दर्शन करेंगी। बाबा विश्वनाथ की मूर्ति पर चढ़कर उनका जयकार करेंगी। काशी में यह सब हो चुका है। ३-यदि हिंसा न भड़कती हो तो मन्दिरों को मस्जिदों में बदलने की छूट रहेगी। ४-मन्दिर मस्जिद में भेद नहीं माना जायेगा, भले ही मुसलमान माना करें। ५-रिश्वत के लिए ही धर्म निरपेक्षता का अवतार हुआ है। ६-पदों का दायित्व भी एक धर्म है। धर्म के उठने से वह भी उठ चुका है। देश धर्मनिरपेक्ष है, जो रुपये देगा उसका काम होगा। ७-पहले गुरु-शिष्यों के धर्म अलग-अलग होते थे। अब दोनों धर्म दूर हो गये हैं। शिष्यों की जूठी सिगरेट गुरु पी सकता है। ८-गुरु शिष्य का भेद मिटा देना ही ठीक होगा। इसके लिए कक्षाओं का पूर्ण बहिष्कार एवं धरना और तोड़-फोड़ से फार्म भरवाना और नकल से परीक्षायें पास करना जरूरी है। ६-धर्म-निरपेक्ष देश से सत्य हट गया है। जो अध्यापक बिना रिश्वत दिये नियुक्त हुआ है और वेतन से कमीशन भी नहीं देता उसे भला होने पर भी चरित्रदोष का लाञ्छन लगा कर धर्मनिरपेक्षता की हवा खाने के लिए विद्यालय से बाहर कर दिया जाये। मुकदमा साला क्या लड़ेगा, रिश्वत की राशि तो हमारे पास है। १०-देश में गुणों की पूछ नहीं है, द्रव्य चाहिए। उसके लिए चाहिए फर्जी सार्टीफिकेट और नियुक्ति के लिए रिश्वत। ११-अब हम धर्म छोड़ चुके हैं, गुणों से काम नहीं, केवल द्रव्य चाहिए। उसके लिए बहुत से साधन हैं, कन्यायें भी क्या कम हैं। १२-मरे पुरखों को पिण्ड नहीं देना है, जीवितों को मरने में छेड़-छाड़ नहीं करना है। १३-लड़की किसी से स्वयम् प्रेम कर ले तो तिलक के संकट से उबार हो। १४-जब धर्म नहीं चाहिए तो कर्म काण्ड वाली संस्कृत शिक्षा क्यों ? १५-मन्दिर मस्जिद दोनों मानवता के विरोधी हैं, विवादस्थल पर पेशाबखाना बनवाया जाये। १६-जब कोई सवर्ण मिल जाये तो उसका अभिवादन मत करो, यदि बातचीत के लिए बैठे तो उसकी ओर पैर फैला दो। १७-यदि दुर्भाग्यवश हाईस्कूल में किसी ब्राह्मण से पढ़ना पड़ा हो तो स्कूल छूटने के बाद मिलने पर उसे प्रणाम न कहो। अपनी जात का पैर छुओ। १८-सवर्णों के भरोसे चुनाव न लड़ो, अपनी भारी संख्या पर भरोसा रखो। १६-ऊपर वाले रिश्वत ले लेकर कोठी बना रहे हैं और हम क्लास में ईमानदारी और लगन से पढ़ें यह नहीं होगा। हम चाकू और

पिस्तौल से परीक्षा पास करेंगे, रिश्वत के जूतों से नौकरी लेंगे और हम भी रिश्वत से बड़ी रकम कमायेंगे। २०-धर्मनिरपेक्ष देश में पुरानी देवमूर्तियों से क्या काम, इन्हें विधर्मियों को देकर रुपये लेने चाहिए। २१-ब्राह्मणों ने युगों तक हमें दलित किया है, अब हमारी बारी है, किसी भी आफिस में इनकी सुनवाई न हो न काम हो यह ध्यान रखो।

पता नहीं समाज ने इस कलुषित कल्पद्रुम से और क्या-क्या पाया है। पर इतनी ही उपलब्धियों पर सोचा जाये कि यह सब समाज में नयी समता सुन्दरी का शुभागमन है या व्यापक विद्रोह दानव का हुँकार है या व्यापक अन्याय की छाया में आतंकवादी उग्रवादी संगठनों का राष्ट्रघाती विकास है। छोटी सी बात कभी-कभी व्यापक कमाल दिखा देती है। ८० वर्ष पहले देश की किसी बड़ी हस्ती ने एक यवनी से प्रेम किया था उसीका नतीजा है देश का असाध्य सिरदर्द पाकिस्तान। उसी प्रेम प्रसंग की ऊपज है यह धर्मनिरपेक्षता। इसका कमाल हम देख रहे हैं।

क्वाध्यात्मविद्याब्धितरंगतर्केषूच्चाबचेषूत्प्लबनम्बुधानाम् ।
क्व धर्मसामान्यनिषेधलब्धस्तृणेष्विवार्थेषु कलिः खलानाम् ।।

जब हम स्वेच्छा से सभी धर्मों को त्याग देते हैं तो हमारे पास तृण तुल्य अर्थों के लिए झगड़े के सिवा बचता क्या है ?

राजनीति के अधकचरों ने कैसा शब्द जमाया है,
पा अधिकार बिना प्रज्ञा के कैसा अर्थ कमाया है।
अब चूहों सी चोरी छोड़ो, मिला एक आतंकी बार,
बिना धर्म के रक्षा कैसी ? अब भी उससे कर लो प्यार।।
बिना धर्म के नीति न होती, उलटी रीति भुला दो अब,
देश तुम्हारा नष्ट हो चुका, नेताओ, चेतोगे कब।
नहीं पराये अपने होते, भले पास आयें जायें,
मति बल से हम राष्ट्र बनायें, धर्म सूत्र में बन्ध जायें।।
धर्म हमें सबसे जोड़ेगा, शत्रु हमारे हित होंगे,
बिना धर्म के पाप जनों से, पद पद धोखे नित होंगे।
धर्मरूप ही प्रभु का अब भी राम राम कहलाता है,
और पापियों की चर्चा पर, राम राम ही भाता है।।

अनुबन्ध-३

धर्म का मूल अस्पृश्यता

हाँ, अस्पृश्यता ही धर्म की प्रतिष्ठा है। स्पर्श के बढ़ने से धर्म घटता है और उसके घटने से विकसित होता है। वह समय अब नहीं रहा जब कुछ ही जातियाँ अस्पृश्य थीं, अब तो भ्रष्टाचारी धन जीवन ने सबको अस्पृश्य बना रखा है। इससे आप चाहे जो और जैसे भी हों, दूसरों से, अच्छे माने जाने वालों से भी, दूर रहिये, सदा अस्पृश्य बन कर रहिये। दूसरों का दिया कभी न खाइये, दूसरों का छुवा भी न खाइये, जो अच्छे माने जाते हैं उनका भी दिया छुवा न खाइये तो अच्छा हो, व्यवहार न बढ़ाइये, दूर दूर ही रहिये, प्रेम न बढ़ाइये, उदासीन रहिये, प्रेम उस परमात्मा से बढ़ाइये जो आपके प्रेम की प्रतीक्षा आदि काल से कर रहा है, जो अति उदार है, प्रेम का मूल्य चुकाना जानता चाहता और सक्षम भी है। आप जो भी धर्म सम्प्रदाय या मजहब मानते हों उसके सदस्यों से भी थोड़ा दूर ही रहिये। दूर रहने की भावना को वाणी मत दीजिये, चोर की तरह दबे छिपे रहिये, सम्पदा के लिये विपदा मत लीजिये, सम्पदा आपके भाग्य से जुड़ी है, वह आपको कभी नहीं छोड़ेगी, आप अपने भाग्य से ही अपने स्तर के हैं, उद्यम भी भाग्य करा लेता है, भाग्य ने आपका जो स्तर बनाया है उसमें घट-बढ़ नहीं होगा। दिखाई पड़ने वाले सारे घट-बढ़ भाग्य के ही खेल होते हैं। आप रिश्वत के दलालों के साथ चाय न पियें, इससे आपका स्तर घटेगा, यदि आप भी रिश्वत के रुपयों से कोठी बना रहे हों या बना चुके हों तो भारी धोखा है, रिश्वत के रुपये भी भाग्य से ही आते हैं, यदि आपको मिले हों तो उन्हें गन्दी वस्तियों के विकास में लगाइये। समझ लीजिये, कि ऐसा करके आप उन गन्दे लोगों का भी कुछ अहित ही करेंगे किन्तु चूंकि वे गन्दगी बटोर रहे होंगे इससे आपके पाप के गन्दे रुपये उन्हें पच सकते हैं, यदि रिश्वती रुपयों से आपकी कोठी बन चुकी है तो उसे उन लोगों को दान में दे दें जो आपके दुश्मन हैं, उससे उनका नाश हो जायेगा।

आप ऐसा अछूत बन जाइये कि रिश्वती रुपये आप तक न आ पायें। यही सही अस्पृश्यता है। इसका वरण प्रत्येक कल्याणकामी को करना चाहिये। जिस किसी प्राणी को आप स्वेच्छा से छूते हैं, उसका कुछ पाप आप लेते है।, यदि वह आपको छूता है तो आपका पाप वह लेता है, श्रद्धा से चरण छूने से पुण्य आता है, कामुकता के बिना सेवा भाव से किसी को भी छूने से पुण्य मिलता है, कामुकता से स्पर्श उसका पाप लाता है। जीविका के लिये चिकित्सक नित्य बहुतों का स्पर्श करके उनके पाप लेता है, इसी से वह भी अशुद्ध और अस्पृश्य माना जाता है, उसका दिया भोजन खाने से उसका संचित पाप आता है, तेली कोल्हू से और कुम्हार आवा की आग से हिंसा बढ़ाकर पाप कमाता है। उनका पानी उनके स्तर के ही लोग पीते हैं, नाई प्रतिदिन बहुतों के पाप बालों के साथ उतारता है, वह भी केवल हजामत के समय छूने का अधिकारी होता है। और जातियों को छोढिये, ब्राह्मण देवता को देखिये, ब्राह्मण यदि बहुतों का पूजा पाठ कथा प्रवचन एवं नक्षत्र मुहूर्त आदि सूचित करता है तो वह निन्दित माना जाता है, उसका भी जल पीना अच्छे ब्राह्मण पसन्द नहीं करते। चाहे कोई भी हो, यदि वह अर्थ कामवश बहुतों से सम्पर्क साधता है तो दोषी होता है। अर्थ के लिये या कामुकता से या दोनों से बहुतों से सम्पर्क साधना हर किसी व्यक्ति को निन्दित अस्पृश्यता देता है। अर्थ कामों से, फलतः समाज से भी दूर रहना वरणीय अस्पृश्यता देता है, आप वरणीय अस्पृश्यता के धनी बनिये।

जो लोग अस्पृश्य न बनकर धन बटोर रहे हैं, देखिये उनके लड़के बर्बाद हैं, कन्यायें उनके मुँह बार-बार काले कर रहीं हैं, उन्हें नाना प्रकार के कष्ट हैं, हो रहे हैं, होंगे। धन का पाप मन को और जीवन को भी बिगाड़ देता है, वही कुसंग भी देता है, देर नहीं लगती, मोह से पता नहीं चलता। आप थोड़ा अलग होकर देखिये, साफ दीखेगा पाप का फल। अछूत होना सौभाग्य है, अछूत बने रहिये, दूसरे किसी को अछूत कहकर अपमानित मत करिये, किसी का दिल कभी मत दुखाइये, हर दिल ईश्वर का मन्दिर है, राम का मन्दिर है, उसे तोड़ने के लिये बर्बर बाबर मत बनिये, शान्त रहिये ! शान्त रहिये !! शान्त रहिये !!! शान्ति ही धर्म की प्रतिष्ठा है, वही सही अस्पृश्यता है।

जन्म से अस्पृश्या ही होते सभी हैं,
त्यागमय संस्कार से हैं शुद्ध होते।
पाप धन ले फूलते जो जा रहे हैं,
जा रहे हैं वे निरय को पुण्य खोते।
शुद्ध ही रहना सही अस्पृश्यता है,
अग्नि सम रहिये वही तो देवता है।
धर्ममय धन शुष्क ईंधन दीप्ति देता,
पाप धन का धूम तो दुःसेव्यता है।
मत भटकिये दम्भियों की दुष्कथा से,
साधु सत्पथ पर सतत चलते सदा से।

लेखक की अन्य कृतियाँ

१. **मानवता की परख** — **१२ रुपये**

इसमें मानवता शब्द कितना अर्थ देता है यह युक्तिपूर्वक समझाया गया है। इण्टर स्तर के छात्रों के लिये उपयोगी है।

२. **सत्पाथेयम्** — **२५ रुपये**

यह संस्कृत पद्य-निबन्ध संस्कृत हिन्दी व्याख्या और विशद्-भावार्थ के साथ छपा है। व्यवहार और परमार्थ दोनों मार्गों में सहायक है। यह उच्च स्तर के विद्वानों से लेकर सामान्य स्तर तक के लिये प्रेरक सरस और संस्कार देने वाला ग्रन्थ है।

३. **गीता गंगा (द्रुतविलम्बिता)**

तीन सौ उक्त छन्दों में भगवद्गीता पर स्वतन्त्र चिन्तन है। इससे गीता के रहस्यों तक प्रवेश में सुविधा होगी। हिन्दी भावानुवाद के साथ शीघ्र प्रकाश में आ रहा है।

४. **गीतागंगा**

इस नाम की और भी तीन स्वतन्त्र रचनायें मूल संस्कृत और मूल हिन्दी में हैं। कुछ विलम्ब से प्रकाश में आयेंगी।

५. **शीलसाहित्यम्**

सात सौ आर्य-छन्दों में नवरचित सूक्तियों का भावानुवाद सहित संग्रह प्रकाशित होंगी।

६. **भावकुसुमाञ्जलि**

मानवमन के शुभ-अशुभ भावों का क्रमबद्ध संस्कृत पद्यबद्ध विश्लेषण, भावानुवाद सहित छपने की योजना है।
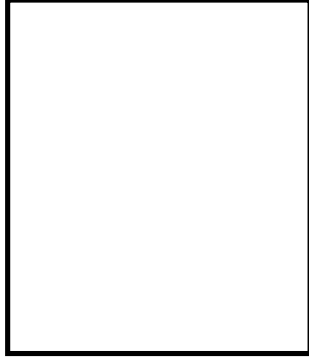
डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय

यह निबन्ध -

१. धर्मशील मनीषियों को प्रकाशमय सन्तुष्टि देगा।

२. जो विवेकी हैं, धर्म नहीं मानते, उनका विवेक बढ़ायेगा।

३. जो हिन्दू नहीं हैं, शीलवान हैं, उनके लिये ही लिखा गया है।

४. संस्कृत के प्रौढ़ पण्डितों के हृदय को ज्यादा छुएगा।

५. दूसरों को, सन्तुष्टि के लिये दुहराने की प्रवृत्ति देगा।

६. नाम से ही अपने विषय सूचित कर रहा है किन्तु विधिनिषेधमय कोई धर्मग्रन्थ नहीं है।

७. प्रमाणों की परिधि के अन्दर है किन्तु उनसे बोझिल नहीं है।

८. अपनी प्यारी प्रज्ञा को सस्नेह भेंट करें।

९. अपनी उपयोगिता बढ़ाने वाले सहृदयों की तलाश में है।

१०. राष्ट्रद्रोहियों को ज्यादा खलेगा।

- लेखक

धर्म और अधर्म

डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय